

नवरत्नम्

१. श्रीमप्रभुचरणानां प्रकाशः
२. श्रीपुरुषोत्तमानां प्रकाशविवृतिः
३. श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभानां प्रकाश टिप्पणी
४. श्रीमुरलीधरभट्टानां विवृतिः
५. श्रीलालूभट्टानां लेखः



॥श्रीकृष्णाय नमः॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

ग्रन्थ-परिचय

एक किंवदन्तीके अनुसार नवरत्न ग्रन्थकी रचना श्रीमहाप्रभुने वि. सं. १५५८ में अडैलमें की थी.*यह ग्रन्थ खेरालुग्रामके गोविन्द दवे साज्वोराकेलिए लिखा गया था.

प्रारम्भसे ही गोविन्द दवेकी मनोवृत्ति वैराग्यप्रधान थी. अल्पवयमें ही ये अपने माता-पिताको छोड़कर तीर्थयात्रार्थ द्वारका पहुंच गये थे और बादमें वहीं रहने लग गये थे. भावप्रकाशके अनुसार ये मर्यादापुष्टिके जीव थे और तदनुरूप इनकी द्वारकालीलामें आसक्ति अधिक थी. द्वारकास्थ श्रीरणछोडजीके स्वरूपमें भी अतएव इनकी अत्यधिक आसक्ति थी. अपने माता-पिताके देहावसानके बाद ये श्राद्ध करने गया गये थे. लौटते समय मार्गमें मनिकर्णिका घाटपर इनकी भेंट श्रीमहाप्रभुके साथ हुई. दर्शन करते समय इन्हें इच्छा हुई कि श्रीमहाप्रभुके पास रहकर कुछ विद्यार्जन करें. अनुमति मिलनेपर कहींसे व्याकरणकी पोथी ले आये पर श्रीमहाप्रभुने मूल गीताके अध्यापनद्वारा ही संस्कृतभाषा, व्याकरण एवम् सिद्धान्त का भी ज्ञान इन्हें प्रदान कर दिया. इससे प्रभावित होकर ये पुष्टिमार्गमें दीक्षित हुए और आज्ञानुसार घर लौटकर भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो गये.

८४ वैष्णवनकी वार्ताके अनुसार-“गोविन्द दूबे धरमें सेवा करे परन्तु मनमें बहुत विग्रह (व्यग्र) रहे सो सेवामें चित्त लागे नहीं. तब गोविन्द दूबे एक पत्र श्रीआचार्यजीको लिखें-“महाराज मेरे मनमें बहुत विग्रह रहत है. भगवत्सेवामें चित्त लागत नहीं सो कहा करूं? सो पत्र श्रीआचार्यजीके पास आयो सो आप बाज्विके ‘नवरत्न’ ग्रन्थ करि लिख पठाये. और लिखें “यह नवरत्न ग्रन्थको पाठ किये तेरे मनकी विग्रहता (व्यग्रता) मिटि जायेगी” सो पाठ करत श्रीआचार्यजीकी कृपाते व्यग्रता-चिन्ता सब मिटि गई. मन भगवत्सेवामें करन लागे.”

* षोडशग्रन्थनी. तवारीखो लेख. नागरदास बाम्भणिया. वैष्णववाणी अड्क ४ वर्ष १९७९



इस प्रसङ्गका निगूढ आशय श्रीहरिरायचरणने भावप्रकाश बहुत सुन्दर शब्दोंमें व्यक्त किया है—“गोविन्द दूबेके मनमें विग्रहता भई ताको अभिप्राय यह जो गोविन्द दूबे जीव तो द्वारिकालीला सम्बन्धी और सेवाभावना ब्रजकी करें. सो मन लागे नाहीं. न राजलीलामें दृढता होई न ब्रजलीलामें. सो अनेक साधनमें मन दोरे. जो तीर्थ करूं के ब्रत करूं, कोई जप करूं इत्यादि मन भटके सो श्रीआचार्यजी महाप्रभु नवरत्न ग्रन्थ लिखि पठाये—“तू चिन्ता मति करें. चित्तकी उद्वेगता है यह प्रभुलीला जानि—श्रीठाकुरमें ते मन और ठोर जाये सोउ भगवदिच्छा मानि—चिन्ता मति करियो. जितनी बने तितनी सेवा करियो. तब गोविन्द दूबेको मन स्थिर होगयो. जहां मन लौकिक वैदिक में जाई तो भगवदिच्छा मानें. श्रीरनछोडजीमें मन बहोत जाई सो भगवदिच्छा माने. उहांकी लींलामें मग्न रहें. काहेते ? शास्त्रपुरान अनेक उपाई प्रभु मिलनके कहे हैं. जीवकों मिसमात्र मार्ग दिखाये. जो जहांको अधिकारी है वामें वाको मन स्वतःसिद्ध लगत है.

ताते जैसे मनुष्य गैल चलिवेवारेको दस गामके मारग बतावें परन्तु जाकों जा गाम जानो होई सोई गाम जात है. तैसे ही कोई भगवदीयद्वारा, कोई गुरुद्वारा, कोई ईश्वरद्वारा जैसो अधिकारी तैसो सङ्ग पाय उही मार्गमें भाव वाकों दृढ होत है. सो गोविन्द दूबेको श्रीरणछोडजीमें दृढ भाव भयो.”

‘पुष्टिप्रवाहमर्यादा’ ग्रन्थमें मार्गभेदका निरूपण किया ही गया है. सभी जीवोंके मार्ग भिन्न-भिन्न है. स्वयम् पुष्टिमार्गमें भी भगवान्के पास पहुंचनेकी अनेक दिशा या सरणी है. जिस दिशामें सहजतया हम चल पाते हों उसी ओर हमारे चलनेका प्रयास निरायास होता है. अपने स्वभावके अनुरूप सहजतया जिस मार्गपर हम चल सकते हैं. उसे छोडकर अन्यान्य फलोंकि कामनाके वश या मिथ्या अनुकरणकी मनोवृत्तिसे, जब हम अपने स्वभावविपरीत मार्गपर चलना चाहते हैं, तो उस आयासमें चिन्ता उद्वेग या व्यग्रता से मनका ग्रस्त हो जाना स्वाभाविक बात है.

पुष्टिपथके पथिक स्वयम् अपने स्वरूपका या अपने कर्तव्यके स्वरूपका अथवा अपने भजनीय भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करें यह तो स्वभाविक तथा आवश्यक ही है. इस चिन्तनका स्थान परन्तु अस्वाभाविक चिन्ता लेने लग जाये तो वह श्रीमहाप्रभुको नहीं सुहाता है. क्योंकि चिन्ताका मूल हमारी आस्था, भक्ति तथा स्वीकृति की मनोवृत्तिमें न होकर अनास्था, उद्विग्नता तथा अस्वीकृति की मनोवृत्तिमें होता है. भगवान्की शरणागति स्वीकारनेके बाद सब कुछ ऐहिक



या पारलौकिक भगवान्को समर्पित कर देना चाहिये. भगवान् तो सर्वज्ञ सर्वसमर्थ सर्वहितैषी-सर्वसुहृत् कर्ता-कारयिता अचिन्त्य-लीला-विहारी है. इस भावभूमिपर संशय चिन्ता या प्रार्थना के विषेले अङ्कुर फूट ही नहीं सकते. जो कुछ घटित हो रहा है उसे लीलाबोधके साथ स्वीकारनेमें ही वास्तविक विवेक समाहित है. भगवान्की कृपासे भगवत्सेवा या भगवत्कथा में जितना भी चित्त तन्मय होता चला जाये उसमें अधिकाधिक आनन्द लेते जानेको मनोवृत्ति एक स्वस्थ स्वीकृतिकी मनोवृत्ति है. जबकि अनधिकार चेष्टाकेद्वारा जो आदर्श तन्मयता हमें प्राप्त नहीं हुई हो, उसके बारेमें चिन्ता या उद्वेग की मनोवृत्ति अस्वस्थ अस्वीकृतिकी मनोवृत्ति है. प्राप्तसे अधिकका मनोरथ अस्वाभाविक नहीं होता परन्तु अप्राप्तकी चिन्ता या तज्जन्य उद्वेग एक अस्वाभाविक मनोवृत्ति है. इसी तरह लौकिक या वैदिक योगक्षेमके बारे में भी निरन्तर चिन्ता करते रहना एक भक्तिविरोधी मनोभाव है.

अतः भगवत्सेवामें प्रवृत्त होनेवाले पुष्टिजीवोंको श्रीमहाप्रभु इस 'नवरत्न' ग्रन्थके द्वारा सभी तरहकी चिन्ताओंसे मुक्त करना चाहते हैं.

वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका अधिकार जैसे गायत्री-मन्त्रके उपदेशग्रहण करनेसे मिलता है, वैसे ही पुष्टिमार्गमें भगवत्सेवाका अधिकार ब्रह्मसम्बन्धकी दीक्षासे प्राप्त होता है. आत्मनिवेदनकी सार्थकता भगवत्सेवाके सम्पन्न होने पर ही होती है. अपने लौकिक व्यवहार भी अतएव यावत्शक्य भगवान्की सेवामें उपयोग लाये हुए पदार्थोंसे चलाने चाहिये. इसमें भी प्रयोजन पुनः भगवत्सेवाका निर्द्वन्द्व निर्वाह ही होना चाहिये. भगवान्को दानरूप किसी वस्तुके भेंट करनेपर उसे पुनः अपने उपयोगमें लाना वर्जित है पर निवेदितके समर्पणकी प्रक्रियामें किसी वस्तुको पुनः अपने उपयोगमें लाना वर्जित नहीं है. प्रत्युत यही प्रकार अनुसरणीय है. अन्यथा भगवान्को निवेदित अन्न आदिका भी प्रसादके रूपमें पुनर्ग्रहण वर्जित मानना पड़ेगा. जबकि सिद्धान्तरहस्यमें असमर्पित वस्तुके त्यागका ही विधान किया गया है. अतः आत्मनिवेदीकेलिए यह सर्वथा उचित बात है कि प्रभुको समर्पित सभी वस्तुओंका कमसे कम एकबार भगवान्की सेवामें पहले विनियोग करे और तब अपने उपभोगार्थ उसे ग्रहण करे. इस नियमके पालनसे आत्मशुद्धि होती है.

परन्तु अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओंके एकबार भगवान्की सेवामें काममें आ जानेपर दुबारा उन्हें जुटानेका प्रयास करना चाहिये कि नहीं? यदि नहीं करते तो आगे सेवाका भी स्वरूप नहीं निभ पायेगा और यदि करते हैं तो वह तो दुनियाकी रीतके अनुसार ही करना पड़ेगा. और उस उपार्जनकी प्रक्रियामें पुनः संसारमें



उलझना पड़ेगा तो सेवामें भी विघ्नकी सम्भावना है. इस तरहकी चिन्ता भगवद्भक्तके मनमें उठ सकती है. स्पष्ट है कि ऐसी चिन्ता स्वार्थप्रेरित नहीं होती किन्तु भगवत्सेवार्थ ही होती है. पर श्रीमहाप्रभु आज्ञा करते हैं कि भक्तको न तो स्वार्थपूर्तिकेलिए और न भगवत्सेवार्थ ही चिन्ता करनी चाहिये.

आत्मनिवेदीकेलिए आवश्यक है कि जीवनमें सुख-दुःख जो भी आयें उन्हें भगवदिच्छा मानकर सहजतया स्वीकार ले. चिन्ता कदापि न करें. लौकिक व्यवहारको निभानेकेलिए लौकिक प्रयासोंमें व्यापृत होनेपर यह सम्भव है कि मर्यादामार्गीय वैराग्य न भी सिद्ध हो. भगवान्ने, किन्तु, पुष्टिमार्गमें हमारा अङ्गीकार किया है अतः प्रवाहमार्गीय लौकिक गति पुष्टिजीवकी होने नहीं देगे, यह दृढ़ आस्था हमें रखनी चाहिये.

भगवत्सेवा निभानेकेलिए व्यापार या नोकरी आदि करनेपर सम्भावित बहिर्मुखतासे बचनेका उपाय है, अपने आत्मनिवेदनकी स्मृतिको बनाये रखना कि “मैं कृष्णका हूँ-कृष्णका दास हूँ.”

किसी विषम स्थितिमें सेवा न निभ पाती हो तब भी अन्य आत्मनिवेदी भगवदीयोंके सत्सङ्गद्वारा इस आत्मनिवेदनकी स्मृतिको बनाये रखना नितान्त आवश्यक है. क्योंकि यह स्मृति मानस-पटलपरसे मिटी और तुरत असुरावेशकी सम्भावना प्रबल हो जाती है.

आत्मनिवेदन करनेवाले सभी पुष्टिजीव चाहे वे उच्चकक्षाके हों या निम्न कक्षाने सभीका सम्बन्ध तो दासके रूपमें भगवान्के साथ जुड़ ही गया है. फिर चिन्ता किस बातकी? भगवान् हमारे स्वामी हैं वे जो भी निजेच्छासे करें वह हमें स्वीकार्य होना चाहिये. और फिर भगवान् तो भक्तवश भी है. अतः अपने भक्तोंकी विकाररहित सारी मनोकामना भगवान् बिना किसी प्रार्थनाकी अपेक्षाके स्वयमेव पूर्ण करेंगे. यह आस्था हमें रखनी चाहिये और चिन्तासे छुटकारा पाना चाहिये.

आत्मनिवेदन तो हम भगवान्को करते हैं पर सेवा तो हमें अपने स्त्रीपुत्र-परिवारकी भी करनी ही पड़ती है. ऐसी चिन्ता भी आत्मनिवेदीको नहीं करनी चाहिये. क्योंकि ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षाके समय हम केवल अपना ही नहीं अपितु



सम्पूर्ण परिवारका भी भगवान्‌को समर्पण कर देते है. अतः हमसे सम्बन्धित सभी कुछ प्रभुका अर्थात् ब्रह्मसे सम्बन्धित हो जाता है. अतः उनका भरण-पोषण या संरक्षण भक्तिविरोधी भाव या व्यवहार नहीं गिना जाता. फिर चिन्ता क्यों करनी चाहिये ?

परिवारके सदस्य यथा पति-पत्नी माता-पिता या सन्तति आदि, यदि भगवत्सेवामें सहायक न होकर अन्यान्य सांसारिक कार्योंमें व्यस्त रहते हों, तब भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. क्योंकि हमारा कर्तव्य है उन्हें प्रभुको समर्पित करना. सो वह कर देनेपर सब कुछ भगवदिच्छापर अवलम्बित है कि कब वे उन्हें अपनी सेवामें काममें लायें. सहज सद्भाव तथा प्रेरणा से उन्हें भगवत्सेवामें प्रवृत्त कराया जा सकता हो तो अच्छी बात है. अन्यथा उनकी भगवत्सेवामें रूचि या प्रवृत्ति न दिखलायी पडती हो तो व्यर्थ चिन्ता कलह या क्लेश करना भक्तिविरोधी भाव है.

कभी यह भी सम्भव है कि हमें ऐसे व्यक्तियोंके काम आना पडे जिनके बारेमें ब्रह्मसम्बन्ध लेते समय उन्हें भगवान्‌को समर्पित करनेका मनोभाव हमारे अन्दर सर्वथा न हो. पर इससे चिन्तित होनेकी आवश्यकता नहीं है. क्योंकि एक बार सर्वात्मना प्रभुके प्रति समर्पित हो जानेपर, चाहे वह समर्पण ज्ञानपूर्वक न भी हो परन्तु चिन्ताका कोई कारण रह नहीं जाता.

कभी-कभी हमें विश्वास नहीं होता कि हमारे आत्मनिवेदनको प्रभुने सुना कि नहीं. हमने तो सब कुछ समर्पित कर दिया पर भगवान्‌ने उसे स्वीकारा कि नहीं. यह चिन्ता भी निरर्थक है. क्योंकि श्रीकृष्ण तो पुष्टिपुरुषोत्तम है अतः जैसे ब्रजभक्तोंका अन्याश्रय छुडाकर स्वयमेव अपने भजनमें उन्हें प्रवृत्त करते हैं, वैसे ही जब और जिस क्षण वह अपने भजनमें हमें प्रवृत्त करना चाहेंगे उस क्षण स्वतः ही हमारा तथा हमसे सम्बन्धित सभी वस्तु या व्यक्ति का उनकी सेवामें विनियोग अनायास सम्पन्न हो जायेगा. यदि भगवदिच्छा पुष्टिमार्गमें हमारे अङ्गीकारकी न हो तो हम आत्मनिवेदन भी नहीं कर पायेंगे. प्रभु तो सर्वसमर्थ है अतः हमारी सारी अयोग्यताओंको दूर कर बिना किसी साधनकी अपेक्षाके हमें योग्य भी बना सकते है. अतः हम निवेदन या समर्पण के योग्य हैं कि नहीं ऐसी चिन्ता भी पुष्टिभक्तको नहीं करनी चाहिये.

जब लौकिक व्यापार आदिमें कोई कठिनाई उपस्थित हो या वैदिक वर्णाश्रम



धर्मके पालनमें कोई कठिनाई उपस्थित हो, तब भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये. प्रत्युत यह समझना चाहिये कि भगवान् अधिकाधिक भक्तिमार्गपर अग्रसर होनेका अवसर हमारे सामने उपस्थित कर रहे है.

आओ सारे पुष्टिजीव आओ और ऐसी विषम स्थितिमें भी अपनी पुष्टिभक्तिको निभानेका यत्न करो. लौकिक या वैदिक व्यवहारोंमें स्वास्थ्यका क्या मूल्य यदि पुष्टिभक्तिका स्वास्थ्य न हों? भगवान् यदि लौकिक दृष्टिसे या वैदिक दृष्टिसे कुछ विषमस्थिति हमारे सम्मुख उपस्थित करते हों तो निश्चिन्त होकर उन्हें सहन कर लेना चाहिये. क्योंकि सम्भवतः इसी तरह भगवान् हमें पुष्टिमार्गपर अग्रसर करना चाहते हों.

भक्तिकी प्रारम्भिक अवस्थामें गुरुकी आज्ञाके अनुसार ही भगवत्सेवा करनी चाहिये. परन्तु भगवदिच्छावश या भगवदाज्ञावश सेवाके प्रकारमें कुछ भिन्नता भी आजाये तो चिन्ताकी कोई बात नहीं है. गुरुकी आज्ञाके अनुसार हो अथवा भगवान्की आज्ञाके अनुसार हो जैसे भी कृष्णसेवामें तत्परता बढ़ती चली जाये वही जीवनप्रणाली सुखप्रद होती है.

निश्चिन्तताके इन सारे सिद्धान्तोंको जाननेके बावजूद भी कभी-कभी पारिवारिक कष्ट व्यक्तिको झकझोर देता है. उदाहरणतया पुत्र, पति या पत्नी के वियोग होनेपर मनस्ताप हो ही जाता है. पर जो भी कुछ घटित होता है उसे भगवल्लीलाके बोधके साथ सहजतया स्वीकार लेनेकी मनोवृत्ति सम्पादित करनी चाहिये. चिन्ता, उद्वेग या मनस्ताप से जितनी भी जल्दी छुटकारा पाया जा सके उसे पानेकी मनोवृत्ति रखनी चाहिये.

भक्तिके नौ सोपान दिखलाये गये है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन. इनमें अपेक्षित प्रकारसे श्रवण—कीर्तन जैसे प्राथमिक सोपानोंपर भी आरोहण करना एक कठिन कार्य है, तो अन्तिम सोपान आत्मनिवेदन और उसके बाद प्राप्त होनेवाली निश्चिन्तताकी मानसिक अवस्थाका लाभ तो अत्यधिक कठिन लगता है परन्तु आवश्यकता इस कठिनताके विचारसे चिन्ताकी नहीं प्रत्युत सर्वात्मना शरणागतिके मनोभावको बनाये रखनेकी है. ऐसी निरर्थक चिन्ताओंमें जितने समय तथा मनोयोग का व्यय हो जाता है, उतने समय तथा उतने मनोयोगसे निरन्तर “श्रीकृष्णः शरणं मम” कहते रहें तो बात बन सकती है.



यह आश्वासन-यह अभिमत केवल गोविन्द दूबेकेलिए नहीं अपितु सभी पुष्टिजीवोंको श्रीमहाप्रभु दे रहे है.

भगवद्-विप्रयोगकी स्नेहात्मिका अनुभूतिमें पुष्टिजीवका कृश होना तो परमपुष्टि है-“तिहारे सेवक ऐसे कृश क्यों? बरजे हते पर मारगमें आये ताको फल पाय रहे है” यह कृशता तो पुष्टिभक्तिके स्थायिभावका एक रोचक सञ्चारिभाव है. अतः रसवर्धक भी है. पर भक्तिके स्थायिभावके विपरीत चिन्ता या उद्वेग रसाभास पैदा करते है. रसाभास पैदा करनेवाले चिन्ताके इन्हीं विविध प्रकारोंमें से कुछ प्रकारोंको यहां सूचित किया गया है. श्रीमहाप्रभु पुष्टिभक्तके मानसको इनसे दूषित होनेसे बचाना चाहते है. ताकि कृष्णसेवा तनु-वित्तजासे मानसी सेवाके रूपमे विकसित हो पाये-आत्मनिवेदनका बीजभाव भगवत्प्रेममे अङ्कुरित हो पाये-भगवदासक्तिमें पल्लवित हो पाये और अन्ततः भगवद्-व्यसनमे वह फलित हो जाये

प्रस्तुत संस्करण वि. सं. १९८१ में श्रीमूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल ब्रजदास साङ्कलियाद्वारा सम्पादित-प्रकाशित संस्करणका ऑफसेट प्रॉसेसद्वारा पुनर्मुद्रित रूप है इस पुनःप्रकाशनके अवसर हम इन महानुभावोंका कृतज्ञापूर्वक स्मरण करते है.



श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोकीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यजरणकमलेभ्यो नमः ।

नवरत्नम्

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥१॥
निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥२॥
सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।
अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥३॥
अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।
यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥४॥
तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।
विनियोगेऽपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥५॥
लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।
पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताऽखिलाः ॥६॥
सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।
अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥७॥
चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥८॥
वदद्भिरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥९॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितं नवरत्नं समाप्तम् ॥

१. 'इति' रहितोऽपि पाठः कचित् । २. 'च' इति श्रीमुरलीधरमट्टसंमतः पाठः । ३. 'अबाधनम्' इति वैकरिपकश्छेदोऽपि । ४. 'एव' इत्यपि पाठः श्रीप्रभुचरणानामिष्टः । श्रीमुरलीधरभट्टानां तु 'एव' इत्येव ।



॥श्रीकृष्णाय नमः॥
नवरत्नम्
श्रीविट्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पदाम्बुजरेणवः ।

स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥१॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।

नत्वा श्रीवल्लभाचार्यान् प्रभून् श्रीविट्ठलेश्वरान् ।

नवरत्नप्रकाशे यास्तद्वाचस्ता उपास्महे ॥१॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः सिद्धान्तरहस्य आत्मनिवेदिनामुत्तरपूर्वाघाश्लेषविनाशोपायस्य भगवतोक्ततत्वेऽपि तत्रोक्तस्य प्रकारस्य भोगसाधकतया अलौकिकभोगानुगुणत्वमेव, न तु सेवाप्रतिबन्धकनिवर्तकत्वमपि इति तदभावे सेवाया आधिदैविकीत्वाभावं तस्मिन् सति तत्प्रवणचेतोरूपमानसीसेवाया असम्भवं चालोच्य, कालप्रारब्धस्वभावैरभीक्ष्णं जन्यमानानामुद्वेगादीनां निवृत्त्यर्थं सेवाफलग्रन्थविवरणे च ‘सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्य’ इति लौकिकभोगनिवृत्तौ तत्स्वरूपविचारस्यैव तन्निरूप्युपायत्वेनोक्तत्वात् साधारणप्रतिबन्धविवृत्तौ च तत्र “आद्यो बुद्ध्या त्याज्य” इति अनेन बुद्धिमात्रस्यैवोपायत्वेन कथनादुद्वेगनिवृत्तौ च कस्यापि साधनस्याकथनात्, किञ्चित् साधनं बुद्धिविशेषरूपं वक्तव्यम् । यद्यपि अतत्त्वनिर्धारविवेकयोः प्रतिबन्धसाधकत्वकथनेन तत्प्रतियोगिनोस्तत्त्वनिर्धारविवेकयोः सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिसाधनत्वं सूचितम्, तथापि तत्त्वनिर्धारस्वरूपस्य सङ्क्षेपतः कुत्राप्यनुक्तत्वाद्विवेकधैर्याश्रये विवेकस्वरूपस्योक्तत्वेऽपि आश्रयशेषत्वेनोक्ततया सेवाशेषत्वेनानुक्तत्वात् सेवाया आधिदैविकीत्वसम्पत्त्यर्थं प्रतिबन्धकत्रयनाशहेतुं सङ्क्षेपेण वदिष्यन्तो, हेतुनाशे कार्यनाशात् तद्धेतुभूतचिन्तानाशकमुपायमुपदिशन्ति इति अनुसन्दधानाः श्रीमत्प्रभुचरणाः नवरत्नं व्याचिकीर्षन्तः, तत्र चिन्ताया अकरणस्य आज्ञप्तत्वात् स्वभावतः प्राप्तायाश्चिन्ताया अनिवार्यत्वात् तत्स्वरूपमन्यन्निश्चित्य तन्निवृत्त्युपायमुपदिशन्तो मङ्गलमाचरन्ति ‘चिन्ते’त्यादि । चिन्ताशब्दः स्मरणाख्ये मनोव्यापारे योगरूढः । चिति स्मृत्याम् इत्यतो भावे अङि कृते चिन्तापदसिद्धेः । “स्याचिन्तास्मृतिराध्यानम्” इति कोशाच्च । सा तु प्रयत्नमन्तरेणापि, सदृशादृष्टचिन्ताद्यैः तद्बीजबोधकैः तदा-तदा सम्भवन्ती न निवारयितुं शक्या । किञ्च, तस्याः सर्वस्या अकरणे “निवेदनं तु स्मर्तव्यम्” इति अग्रिमग्रन्थस्यापि विरोध इति सात्र न निषिध्यत्वेन विवक्षिता, किन्तु शास्त्रेषु प्रस्तूयमाने विचारे “अथेदं चिन्त्यत” इत्यादिप्रयोगदर्शनाद्विचारापरनामा सप्रयत्नः स्मरणविशेषश्चिन्ता, तस्या अपि यो अवस्था विशेषकृतो अवान्तरविशेषः,

१.विचारयितुम् इति पाठः.

ननु भगवदीयानां कथं चिन्तोद्भवः। इत्थम्। आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः, नेतरे। तत्र चैहिकपारलौकिकयोरर्थयोर्नावशिष्टं किञ्चिदसमर्पितम्। एवं सति देहादिनिर्वाहः केन कार्यः।, किं निवेदितार्थेन, उत इतरेण वा। तत्र नाद्यः। तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुमशक्यत्वात्, इच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात्। वस्तुतस्त्विच्छायामपि सत्यां तदुपयोगो अनुचितः सेवकस्य। न च तदीयानां देहादीनां तदीयार्थेन पोषणं न दोषायेति

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

“एवमापन्नस्य मे किं स्यात्” इत्याकारकः, सो अत्र चिन्तापदेन परामृश्यते। तस्याः सन्तानः परम्परा, तद्धन्तारो निवारका यत्पदाम्बुजरेणवस्तान् निजाचार्यान् मुहुर्मुहुः यदा-यदा तत्सम्भवः तदा-तदा तन्निवृत्यर्थं प्रकर्षेण कायवाङ्मनसेन नमामि इति अर्थः। तेन तदीयानां प्रथमत इदमेव तन्निवृत्ति साधनम् इति बोधितम्।

अतःपरं व्याख्येयग्रन्थे चिन्ताया अकरणस्य निवेदितात्मधर्मत्वेनोक्तत्वाद् ब्रह्मसम्बन्धकरणरूपस्य निवेदनस्य चात्र भगवद्धर्माचरणाधिकारत्वेन विवक्षितत्वात् तेन भगवदीयत्वे सति यथा चिन्तोद्भवस्तं प्रकारं ग्रन्थावतरणाय पृच्छन्ति ‘नन्वि’त्यादि। सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वदोषानिवृत्तेरसमर्पितवर्जनेन च भाविदोषासंसर्गस्य व्यवहारानुरोधिगौणधर्मोपदेशेन लौकिकालौकिक निर्वाहप्रकारस्य चोक्तत्वात् तद्रीत्या अभीक्षणं भगवन्तमनुसन्दधानानां मैहिकामुष्मिकचिन्ताहेतोर्निरस्तत्वात् केन प्रकारेण चिन्तोद्भवो यन्निवृत्यर्थं नवरत्नकरणम् इति अर्थः। एवं साभिप्रायप्रश्नमुखेन तादृशां चिन्तोद्भवे आक्षिप्ते तेषां यादृशचिन्तोद्भवस्तं प्रकारं वक्तुं निवेदनस्याधिकाररूपतायास्तत्प्रकारस्य च कुत्रापि प्रकरणग्रन्थेष्वनुक्तत्वात्तत्प्रकारकथनादिना तदावश्यकत्वं च दृढीकर्तुं येषां न लौकिकी चिन्ता, ते भगवदीया इति तेषां स्वरूपबोधनाया प्रथमतः पुरःस्फूर्तिकं चिन्तोद्भवप्रकारं वदिष्यन्तस्तत्र हेतुं विकल्पयन्ति ‘इत्थम्’ इत्यादि। तथा च। सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या चिन्ताया असम्भवेपि शरीरादियात्रानिर्वाहप्रकारस्य तत्रानुक्तत्वा “दनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्” इति भगवदुक्ते निर्वाहप्रकारे प्राप्तस्योक्तविकल्पात्मकहेतोर्वशाच्चिन्ता सम्भवति इति तन्निवृत्यर्थं ग्रन्थकरणम् इति अर्थः। एवं सम्भवहेतुं विकल्प्याद्यं परिहरन्ति ‘तत्रे’त्यादि। आद्यः निवेदितेनैव निर्वाहः कार्य इति पक्षो न युज्यते। तत्र हेतु ‘स्तदीयार्थस्ये’त्यादि। नन्वेकादशोऽनविंश आत्मनिवेदिनां धर्माः “श्रद्धामृतकथायां म” इत्यादिनोपदिष्टाः, ते च शरीरस्थितिमन्तरेणानुपपद्यमानास्तद्धेतुमाक्षिपन्तो निवेदितेनैव निर्वाहमाक्षिपन्ति इति नेच्छाया ज्ञातुमशक्यत्वम् इत्यत आहुः ‘वस्तुत’ इत्यादि। ‘अनुचित’ इति। भगवद्वाक्यतात्पर्यज्ञानाभावादनुचितः। ‘सेवकस्ये’ति हेतुगर्भं विशेषणम्। तथा चेच्छाज्ञानेपि प्रत्यक्षाज्ञाभावेन स्वतस्तथाकरणे भक्तिमार्गविरुद्धस्य स्वातन्त्र्यस्य सम्भवादनुचित इति अर्थः। पुनः प्रकारान्तरेणौचित्यम् आशङ्क्य परिहरन्ति ‘न चे’त्यादि। ‘दोषावहत्वात्’ इति। देहादेर्भगवदीयत्वेपि तत्र स्वत्वाभिमानस्यानपेतत्वेन

श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

वाच्यम्। स्वतस्तथाकृतेर्दोषावहत्वात्तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् इति उक्तम्। न द्वितीयः, अस्वधर्मत्वात्। निवेदितस्यार्थस्य स्थित्याद्यर्थं स्वस्य विचारस्याप्यनुचितत्वात्। तदभिमाने तत्सम्भवात्। एवं सति देहादिनाशसम्भवेन भजनासम्भवात्तद्वैयर्थ्यापातः। मार्ग एव चायमुच्छिद्येत। अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाह इति उभयतःपाशारज्जुरिति चेत्। अत्र वदामः। “दारान् सूतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्। एवं

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

तथात्वात् इति अर्थः। द्वितीयं परिहरन्ति ‘न द्वितीय’ इत्यादि। तत्र हेतुः ‘अस्वधर्मत्वात्’ इति। तदुपपादयन्ति ‘निवेदितस्ये’त्यादि। भगवता ह्यात्मसमर्पणमिदं स्वत्वाभिमानत्यागार्थमेवाधिकारिविशेषणतयोपदिष्टम्। तत्पूर्वकमेव सेवाकरणस्य महद्विमृग्यभक्त्युत्कृष्टकारणत्वात्। अन्यथा अत्रोक्तानां पूर्वमेकादशाध्यायेष्युक्तत्वादत्रोक्तेषु विशेषाः भावे उत्कृष्टकारणत्वप्रतिज्ञानं विरुद्धं स्यात्। उत्कृष्टत्वं त्वत्रानन्यथासिद्धत्वमेव। न त्वन्यत्। तथा सति पूर्वोक्तेष्वेतत्कारणत्वाभावप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः। तथा सत्येतेषु परत्वोक्तेर्विरोधप्रसङ्गात् इति। अतो यथान्यस्मिन्निवेदिते अयं नाभिमन्यते, तथा देहादावपि युक्तम्। तद्यद्यनिवेदितेन देहादिनिर्वाहं चिन्तयेत्, तदा स्वत्वाद्यभिमानदाढूर्यापित्या स्वस्वधर्मो बाध्येतेति स्वधर्मविरोधेन तथात्वात् इति अर्थः। एवं हेतुद्वयं परिहृत्य यथाचिन्तोद्भवस्तं प्रकारम् आहुः ‘एवं सति’ इत्यादि। एवं देहादिनिर्वाहप्रकारद्वये बाधिते सति देहादेस्तथात्वेन भजनासम्भवान्निवेदनवैयर्थ्यं पुष्टिमर्यादात्मकभक्तिमार्गोच्छेदश्चेति भगवता भक्त्यधिकारवाक्यं भक्तिपरमकारणवाक्ये किमभिप्रायेणोक्तम्। ततश्च तदर्थज्ञानासम्भवे तदुक्तकरणस्यापि व्यङ्ग्यत्वात्कथं परमभक्तिलाभ इत्येवं तत्सम्भव इति अर्थः। एवं चिन्तासम्भवव्युत्पादनमुखेनात्मनिवेदनस्य आवश्यकत्वे आक्षिप्ते प्रमाणपुरःसरं तत् आवश्यकत्वं साधयन्त उभयतः पाशं परिहरन्ति ‘अत्रे’त्यादि। इह ‘दारा’नितिवाक्यमेकादशे प्रबुद्धेन “तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतम्। अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरि”रिति भगवत्तोषहेतून् धर्मानुपक्रम्य तत्र पठितम्। दारादीनालक्ष्यं यत् परमेश्वराय निवेदनं तदुपयोगितया समर्पणं तत् शिक्षेत् इति तत्रपदसम्बन्धाद्दारादिनिवेदनस्य भगवत्तोषहेतुत्वं बोधयति। द्वितीयं तु भगवता भक्तिपरमकारणमुपक्रम्य तदधिकारिविशेषणबोधनाय पठितम् इति तत्र तदावश्यकतां बोधयति। आदिपदेन ‘दास्येनात्मनिवेदनम्’ इति भगवद्वाक्यं स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन चेति बल्याचारबोधकं वाक्यं च सङ्गृह्यते। अत एतादृशैर्वाक्यैः स्वसर्वस्वसहितात्मसमर्पणं भक्तिमार्गं आवश्यकम्। तत्र हेतुर्दृष्टान्तश्च ‘साक्षात्’ इत्यादिना स्फुटीक्रियते। न ‘चैवं धर्मे’रिति वाक्ये स्वकृतधर्मापेक्षया मनुष्यत्वस्य पूर्ववर्तित्वेन तत्र तेषां हेतुततया अनन्वयेप्यात्मनिवेदिनाम् इति तद्विशेषणं प्रति हेतुत्वस्य सुवचत्वात्तं प्रत्येव तेषां हेतुत्वं तस्य भक्तिं प्रतीतिप्रतीतेः स्फुटत्वादात्मनिवेदनस्य धर्मकरणं प्रत्यधिकारत्वमयुक्तम् इति शङ्क्यम्। साक्षात् क्रियान्वयं विहायैवं कल्पने बीजाभावात्। धर्माणां तत्रोपक्षये आत्मनिवेदनोत्तरं तदकरणप्रसङ्गात्।

१.स्वस्य धर्म इति पाठः.

धर्मैर्मनुष्याणामुद्धृत्वात्मनिवेदिनाम्। मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यत”
 इत्यादिवाक्यैस्तद् आवश्यकम्। साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य
 वैदिककर्मणि गायत्युपदेशजसंस्कारवत्। (निवेदनस्य सार्थकत्वाय
 भजनसिद्ध्यर्थमावश्यकव्यवहारार्थं निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोगः कार्यः।) अन्यथा
 दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने अकृते अग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः।
 अपरं च। दाने हि न स्वविनियोगो, न तु निवेदने। अन्यथा निवेदितान्नादेर्भोजनं न
 स्यात्। अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

दास्येनात्मनिवेदनस्य प्रागुक्तत्वेन दास्यापेक्षया न्यूनश्रद्धादिधर्मजन्यात्मनिवेदनस्यात्र
 परत्वोक्तेर्बीजानुपलम्भाच्च। तस्मादात्मनिवेदनस्याधिकारत्वायैवैवमुक्तिरिति निश्चय
 इति बोध्यम्। तथा च त्रैवर्णिकत्वेन सत्यामपि स्वरूपयोग्यतायामुपनयनं विना
 वैदिककर्मणि यथा नाधिकारः, तथा ‘देवो असुरो वे’ति “को नु राजन्निन्द्रियवान्”
 इति च वाक्यात् स्वरूपयोग्यत्वेपि निवेदनं विना विवक्षितभक्तौ नाधिकार इति
 सिध्यति। एवं निवेदनस्वरूपस्यानवगमे भजनासिद्धिं स्फुटीकुर्वन्ति ‘अन्यथे’त्यादि।
 यदि भगवद्वाक्यस्थे आत्मनिवेदिपदे दाराद्यात्मा न सङ्गृह्येत, तदा दारपरिग्रहोत्तरक्षण
 एव तथा तदात्मनिवेदने अकृते तस्या आत्मनिवेदित्वाभावादनधिकारेणाग्रे सेवायां
 तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिरत उक्तरीत्या तज्ज्ञानमावश्यकम् इति अर्थः।
 तथा च यथा गायत्युपदेशजनित उपनयनसंस्कारः, प्रतिपुरुषं भवंस्तस्य तस्य
 वैदिककर्मोपकारकदेहादिनिर्वाहप्रयोजकभिक्षादिकर्मणां न प्रतिरोधकः, तथोक्तरीत्या
 निवेदनरूपः संस्कारोपि भजनोपकारकदेहादिनिर्वाहप्रयोजकस्य निवेदितोपयोगस्य
 न प्रतिरोधक इति नोभयतःपाशारज्जुरित्यर्थः। अत्र दारपदं चेतनयोः
 पुत्राप्तयोरप्युपलक्षकम्। उत्तरक्षणपदं चावश्यकत्वपरम्। न त्वव्यवहितोत्तरत्वपरम्।
 अशक्योपदेशत्वापादकत्वात्। अथवा। उत्तरक्षण एव तद्वैयर्थ्यापत्तिरिति योजना।
 तेन न कोपि दोषः। एवं चोक्तवाक्यद्वयविचारे दारादिनिवेदनं स्वात्मना सह क्रियमाणं
 पृथक् धर्मरूपम्, दारादिभिः स्वयं क्रियमाणं त्वधिकाररूपम् इति सिध्यति इति।
 एकेन स्वसर्वस्वनिवेदने तेषां निवेदितत्वेपि तेषां स्वस्वसंस्काराय पृथक् तत्करणं
 युज्यते। तस्मात्सुष्ठूक्तं “अन्यथा तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्ति”रिति। ननु
 भवत्वेवमिच्छाज्ञानेनोभयतःपाशनिवृत्तिः, तथाप्याज्ञा अभावे स्वतस्तथाकरणे यो
 दोषः स कथं निवर्तेतेत्यत आहुः ‘अपरं चे’त्यादि। दानं नाम स्वत्वपरित्यागपूर्वकः
 परस्वत्वोत्पादनानुकूलः “तुभ्यमहं सम्प्रददे न मम” इत्यादिशब्दाभिव्यङ्ग्यो
 मनोव्यापारः। तस्मिन् कृते सति ‘हि’ निश्चयेन न स्वविनियोगः।
 दत्तापहारदोशेत्पादकत्वात्। निवेदनं तु तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकः
 स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः “तुभ्यं समर्पयामि, निवेदयामि”
 इत्यादिशब्दाभिव्यङ्ग्यस्तद्विलक्षणो मनोव्यापारः। तस्मिन्कृते तु न स्वविनियोगो
 दोषाय। दत्तापहारदोषानुत्पादकत्वात्। तत्र गमकम् आहुः ‘अन्यथे’त्यादि। यदि
 स्वत्वत्यागपरस्वत्वोत्पत्त्यानुकूल्ययोर्दाने

१. () नास्ति बहुपुस्तकेषु.

निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा, दासधर्मत्वात्। “उच्छिष्टभोजिनो दासा” इत्यादिवाक्यैः। आत्मशोधकत्वाच्च। किन्तु प्रभौ निवेदितार्थस्य विनियोगे जाते अग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो नवेति भवति चिन्ता। *तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भवः सेवाप्रतिबन्धश्च। ‘त्रैवर्गिकायासे’तिवाक्यात् भगवत्कृतप्रतिबन्धश्च तत्र स्यात्। अकरणे निवेद्याभावेन भवति च दुःखम्। एवं भूतान स्वानुपदिशन्ति चिन्ता कापि न कार्येति।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

निवेदने च तुल्यतायामपि कश्चिद्विशेषो न स्यात्, तदा पुराणेष्वनिवेदितस्य निषिद्धत्वान्निवेदितान्नादेर्भोजनं नोक्तं स्यात्। तत्तूच्यते। तथा हि। हरिवल्लभसुधोदये स्कान्दे “नैवेद्यशेषं तुलसीविमिश्रं विशेषतः पादजलेन सिक्तम्। यो अश्नाति नित्यं पुरतो मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम्। षड्भिर्मासोपवासैस्तु यत्फलं परिकीर्तितम्। विष्णोर्नैवेद्यसिक्थेन तत्फलं भुञ्जतः कला” इति। गारुडे च “पादोदकं पिबेन्नित्यं नैवेद्यं भक्षयेद्द्वरेः। शेषाश्च मस्तके धार्या इति वेदानुशासनम्” इति। ब्रह्माण्डे च “पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्नपानाद्यमौषधम्। अनिवेद्य न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम्। अनिवेद्य तु भुञ्जानः प्रायश्चित्ती भवेन्नरः। तस्मात्सर्वं निवेद्यैव विष्णोर्भुञ्जीत सर्वदे”ति। पद्मपुराणेपि गौतमः “अम्बरीष गृहे पक्वं सदाभीष्टं यदात्मनः। अनिवेद्य हरेर्भुञ्जन् सप्तजन्मानि नारकी। अम्बरीष नवं वस्त्रं फलमन्नं रसादिकम्। कृत्वा विष्णूपभोग्यं तु सदा सेव्यं हि वैष्णवै”रिति। श्रीभागवते षष्ठस्कन्धे दितिपुंसवनव्रते समाप्त्यध्याये “उद्वास्य देवं स्वे धाम्नि तन्निवेदितमग्रतः। अद्यादात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकामाप्तये तथे”ति। तेन सिद्धम् आहुः ‘निवेदितानाम्’ इत्यादि ‘शोधकत्वाच्चे’त्यन्तम्। तथा चैवं भगवद्दत्तप्रसादत्वेन तन्निवेदितग्रहणस्य दासधर्मत्वे सिद्धे आज्ञप्तत्वमप्यर्थादेव सिद्धम् इति न भक्तिमार्गविरुद्धस्य स्वातन्त्र्यस्यापत्तिरित्यर्थः। नचोक्तवाक्येषु ‘त्वयोपभुक्ते’ति वाक्ये च अचेतनानामेव प्रसादत्वेनोपयोगस्योक्तत्वाद्दारादीनां विनियोगे दोषः स्यादेवेति शङ्क्यम्। पाकादिसेवायां विनियोगस्य तेषामपि सिद्धत्वेनादोषात् इति। एवं चैतावता ग्रन्थेन सिद्धान्तरहस्योक्तमेव सर्वं निर्धारितं ज्ञेयम्। तेनात्र न तदुक्तविचाराच्चिन्तासम्भवः, किन्तु प्रकारान्तरेणेति बोधितम्। अतः परं तत्सम्भवप्रकारं वदन्तो ग्रन्थमवतारयन्ति ‘किन्त्वि’त्यादि। व्याकुर्वन्ति ‘लौकिके’-

(*किञ्च. तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भव इति आरभ्योक्तचिन्ताभावायेदमत्र विचार्यते. सेवार्थं यत्नकरणे बाहिर्मुख्यं सेवाप्रतिबन्धश्च न सम्भवति. तस्य सेवाङ्गत्वेन तत्पूरकत्वात् तदकरणे तदसम्भवाच्च. न च ‘त्रैवर्गिकायासे’ति वाक्यात्तत्र भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति वाच्यम्. त्रैवर्गिकपदवैयर्थ्यापत्तेः. अन्यथा आयासविधातम् इत्येतावतैव चारितार्थ्यं स्यात्. अतः स्वकीयानां त्रैवर्गिकायासविधातमेव भगवान् करोति, न स्वसेवार्थकायासविधातम् इति निश्चीयते. अन्यथा यत्नमात्रस्य निषेधे भजनमार्ग एवोच्छिद्येत. नन्वात्म-

१. चिह्नान्तर्गतं टिप्पणं पाश्चात्यं प्रभूणाम् इति प्रतिभाति. २. दितिपयोव्रतोत पाठः.

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।

भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥१॥

लौकिकतदभावेपि भगवदर्थपि सा न कार्या। एतद् आहुः कापि इति शब्देन अङ्गीकारेणैव सर्वं स्वत एव करिष्यति इति विश्वासो यतस्तस्यावश्यकः। भगवतोपि तथानियमः। कदाचित् परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुश्चेद्विलम्बते, तदापि न कार्येति आहुः कदापि इति

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

त्यादि। सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या तन्निष्कर्षजनकपूर्वोक्तविचाररीत्या च लौकिक्याश्चिन्ताया अभावेपि पूर्वोक्तरीत्या भगवदर्थपि सा न कार्या। तत्र हेत्वपेक्षायां ‘निवेदितात्म’पदेन ‘भगवानपि’ इति उत्तरार्धेन च सूचितं हेतुद्वयं व्याख्यानमुखेन स्फुटीकुर्वन्ति ‘अङ्गीकारेणैवे’त्यादि। ‘आवश्यक’ इति। ब्रह्मास्त्रचातकन्यायादावश्यकः। एतेन निवेदितात्मपदसूचितो हेतुर्विवृत्तः। द्वितीयं विवृण्वन्ति “भगवतोपि तथा नियम” इति। अङ्गीकृतपालननियमः। योगक्षेमवहनवाक्येनैव तथा सिद्धत्वात् इति अर्थः। (यदि तूत्तरार्धस्याग्रे व्याख्यातत्वादेतस्य पूर्वशेषत्वमङ्गीक्रियते, तदास्यार्थिकत्वं ज्ञेयम्। वस्तुतस्तूत्तरार्धे व्याख्यानेपि महापुरुषेण निवेदितेन पूर्वार्धोक्ते हेतोरप्युक्तत्वात्पूर्वार्धेप्युत्तरार्धार्थाङ्गीकारो न दुष्ट इति ज्ञेयम्।) तत्रापि विशेषं वदन्ति इति आहुः कदाचिदित्यादि। ‘कदापीति’पदेनेति। कदाशब्दापिशब्दाभ्यां युक्तम् इति पदं तेनेति अर्थः। प्रकारद्वयान्यतरेण विलम्बेपि चिन्ताया अकरणे एतावेव हेतू इति ज्ञापनायान्ते ‘इति’पदोक्तिः। तथा “चात्रेतिपदयुतात्पाठादुपगीति

श्छन्दः। आर्याद्वितीयकेर्धे यद्गदितं लक्षणं। तत्स्यात्। यद्युभयोरपि दलयोरुपगीतिं तां मुनिर्ब्रूते” इति वृत्तरत्नाकरे तल्लक्षणादुदाहरणाच्च। यदा ‘त्विति’ शब्दरहितः पाठः, तदा त्वियं वृत्तिगन्धिचूर्णिकेति न किमपि छन्दः। (वृत्तिगन्धिचूर्णिकालक्षणं तु छन्दोमञ्जर्यामुक्तम्। “अपादः पदसन्तानो गद्यं तत्तु त्रिधा मतम्। चूर्णिकोत्कलिकाप्रायवृत्तिगन्धिप्रभेदतः। अकठोराक्षरं स्वल्पसमासं चूर्णकं विदुः। भवत्युत्कलिताप्रायं समासाद्यं दृढाक्षरम्। वृत्तेकदेशसम्बन्धाद् वृत्तिगन्धि पुनः स्मृतम्।) तदा हेतुरर्थोक्त एव।

ननु सत्यं भगवान् स्वाज्ञाकारित्वं जीवे अवलोक्यापेक्षितपूर्णेन योगक्षेमं भगवदर्थं लौकिकार्थं च निर्वाहयति, तथापि प्रथमं जघन्याधिकारे भगवास्तथा निर्वाहयेन्नवेति निवेदिनामितरयत्नासम्भवेन तज्जनितचिन्ता अभावात् कथं चिन्ता ना कार्येत्युपदेश इति चेत्. अत्रेदं प्रतिभाति. भजनमार्गे हि भगवदङ्गीकारस्त्रिविधः. पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन. तत्रापि वै त्रैविध्यम्. तत्र पुष्टिपुष्टावङ्गीकृतस्य नेतरयत्नसम्भावनापि. परं मर्यादापुष्टौ प्रवाहपुष्टौ चाङ्गीकृतस्य तत्करणं मर्यादाप्रवाहांशः, तद्विघातः पुष्ट्यंशः. तथा चात्मनिवेदिनां मर्यादाप्रवाहसंवलितानां यथेतरयत्ने कृते बाहिर्मुख्येसेवाप्रतिबन्धतद्विघातादिकं भवति, तथा सेवार्थकेपि यत्ने भविष्यति इति भवति चिन्ता. अतस्तदभावाय तान् प्रति चिन्ता कापि न कार्येति उक्तम्. अतः सेवार्थं यत्नः कर्तव्य एवेति नानुपपत्तिः काचित्.)

१. लौकिकि इति पाठः. २. भोजनार्थम् इति पाठः. ३.() चिह्नान्तर्गतं बहुषु पुस्तकेषु नास्ति. ४.() टिप्पणं नास्ति बहुषु पुस्तकेषु.

पदेन। ननु लोकवत् कुटुम्बाद्यासक्त्या स्वस्यापि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्, तत्र आहुः भगवानपि इति। यतः पुष्टिस्थो अतो मर्यादामार्गीयवैराग्याद्यभावेपि “महापुरुषेण निवेदिता” इति स्वकीयत्वेनाङ्गीकारात् तथा न करिष्यति इति अर्थः ॥१॥

एवं चेत्, स्वाच्छन्द्यव्यवहारापत्या बाहिर्मुख्यं स्यादत आहुः निवेदनम् इति।

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥२॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

चिन्ता स्यादेवेत्याशङ्कां समादधते इति आशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति ‘ननुलोकवत्’ इत्यादि। ‘स्वस्यापि’ इति अनेन भगवान् परामृश्यते। ‘गतिम्’ इति। रीतिम्। तथा च यथा लौकिकाः प्रभवः सेवकस्य कुटुम्बाद्यासक्तिं दृष्ट्वा तत्कार्ये उदासते। तथा भगवानप्युदासीत, तदा किं कुर्यात् इति अर्थः। व्याकुर्वन्ति ‘यत’ इत्यादि। यतो अयं जीवः पुष्टिस्थः भक्तिमार्गीयत्वाद्भक्तिकारणीभूतानुग्रहविषयोऽत एतस्मिन् मर्यादामार्गीयवैराग्याद्यभावेपि महापुरुषेणैतत्सम्बन्धिनः सर्वेपि निवेदिता इति तेष्ववासक्तावलौकिको भगवान् यथा नारदवाक्यसत्यत्वाय नलकूबरमणिग्रीवावनुजग्राहेति दृष्टत्वात्, “स्वयं समुत्तीर्ये”ति गर्भस्तुतिवाक्ये भक्तिमार्गप्रवर्तकाचार्यानुगृहीतेषु भगवदनुग्रहस्य सिद्धत्वाच्च, स्वाभीष्टमार्गप्रवर्तकाचार्यनिवेदितेषु स्वकीयत्वेनाङ्गीकारादुपेक्षां न करिष्यति इति भगवत्स्वभावं निश्चित्य, “संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभि”रितिन्यायेन क्लेशे स्वप्रारब्धस्य हेतुतां चानुसन्धाय चिन्ता न कार्या, तथा तनुजायां शरीरसहायसौकर्याभावेपि न कार्येति बोध्यम्। अत्र दिङ्मात्रस्य प्रदर्शनात् इति। ‘लौकिकीं चे’ति मूले चकारोवधारणार्थः क्रिययान्वेति। समुच्चयार्थत्वे त्वनुक्तां वैदिकीं तथात्र भक्तिमार्गीये क्वाप्यश्रवणादस्मरणाद् योगक्षेमप्रवहणवाक्याच्च। इदं च ‘सर्वान्नानुमति’सूत्रे स्थितम्॥१॥

अतःपरमत्र दोषोपस्थितिमाशङ्क्य परिहरन्ति इति आशयेन अग्रिममवतारयन्ति “एवं चेत्” इत्यादि। कुटुम्बाद्यासक्तावपि भगवानुपेक्षां न कुर्याच्चेत्, तदा नैवेद्यादिसम्पादनार्थं यत्न एव कर्तव्यः, किमर्थं क्लेशः सोढव्य इत्यादिविचारेण स्वच्छन्द्यव्यवहारापत्या नानाविधं बाहिर्मुख्यं स्यात्। अत एतादृशे सङ्कटे उपायाम् आहुः इति अर्थः। व्याकुर्वन्ति ‘सर्वदे’त्यादि। आत्मनिवेदनं हि सेवाधिकारार्थं संस्काररूपतया भगवतो अभिप्रेतम् इति पूर्वमुपपादितम्। तथा च तदुत्तरं सर्वदा सेवाया एव करणात्सर्वांशे स्वस्य सपरिकरस्य सर्वदा भगवदीयत्वानुसन्धाने बाहिर्मुख्यं न भविष्यति इति भाव इति अर्थः। नन्वत्र ‘तु’शब्देन निवेदनस्मरणस्यैव तथात्वं बोध्यत इति कथं तथा व्याख्यायते इति आकाङ्क्षायां तुशब्द-

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन^१ तथा न भविष्यति इति भावः। अशक्त्या सेवाद्यसम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तुशब्दः। चकारपक्षे समुच्चयः। सर्वथेत्यस्य आवश्यकत्वज्ञापनाय। अथवा। सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तैः सह तथा। एतेन सङ्गदोषो निवारितः। अतादृशेष्वेतद्गोपनं सूच्यते। सर्वदेतिपाठे कालापरिच्छेदस्तत्रोच्यते। अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यात् इति भावः। कदाचिदलौकिकार्थस्य लौकिकस्य वा सिद्ध्यर्थं प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेति आहुः सर्वेश्वर इति। अत्र सर्वशब्दो निवेदितात्मसर्वपरः। यथा “सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या” इति अत्र निमन्त्रिता एव सर्वपदेनोच्यते, न त्वन्येपि। सर्वात्मपदेऽप्येवं ज्ञेयम्। तेन सेवकाः सर्वे^२ यथा^३ - यथा प्रपन्नाः, तथा - तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गीकृतस्वामित्व आत्मीयत्वमेव^४ तेषु मनुत इति तद्धितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते। अथवा। कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायाम् इति ज्ञापनाय सर्वपदं कालादिपरम्। प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यति इति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय निजेच्छेत्युक्तम्। अथवा। निजाः स्वीयत्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रचुरेच्छातः स्वयमेवापेक्षितं करिष्यति इति न प्रार्थनापेक्षेति अर्थः। परन्तिवच्छाया अविकृतत्वमेवापेक्षितम् इति ज्ञापनायाव्ययप्रयोगः ॥२॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

तात्पर्यम् आहुः ‘अशक्त्ये’त्यादि। तथा च अनुकल्पत्वबोधनाय तुशब्द इति न पूर्वव्याख्याने दोष इति अर्थः। एतदेव दृढीकर्तुं पाठान्तरं विवृण्वन्ति ‘चकारे’त्यादि। ‘सर्वथे’ति पदं व्याकुर्वन्ति ‘सर्वथे’त्यादि। ‘अस्ये’ति। निवेदनस्य। ननु मुख्याशक्तावनुकल्पत्वादेवावश्यकत्वप्राप्तेर्नेदं व्याख्यानं युक्तम् इति रुच्या पक्षान्तरम् आहुः ‘अथवे’त्यादि ‘सूच्यत’ इति अन्तम्। अस्मिन् पक्षे ‘सर्वथातादृशै’रित्येकं पदम्। पाठान्तरं व्याकुर्वन्ति ‘सर्वदे’त्यादि। ‘तत्रे’ति। निवेदनस्मरणे। एवं व्याख्यानद्वयेनसर्वदा भगवदीयत्वानुसन्धानमुत्तमभगवदीयसङ्गेन दुःसङ्गवर्जनं दुष्टेष्वेतद्गोपनं चेति त्रयमुक्तम्। तथा च सर्वदैतत्करणे पूर्वोक्तदोषस्य न संसर्ग इति अर्थः। अतः परं प्रारब्धेनातिक्लेशप्राप्तौ पूर्वोक्तत्रयस्यान्यतरस्य वा असम्भवे प्रभोश्च सानुभावतायां क्लेशनिवृत्त्यर्थं तत्प्रार्थनं कार्यं नवेति चिन्तायामुपायान्तरं वदन्ति इति आशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति ‘कदाचित्’ इत्यादि। अर्थस्त्वतिरोहितः। ‘प्रश्ने’ इति सप्तमी। व्याकुर्वन्ति ‘अत्र सर्वे’त्यादि। अस्मिन् पक्षे सर्वपदस्य वृत्तिसङ्कोच इति रुच्यापक्षान्तरम् आहुः ‘अथवा काले’त्यादि। ‘निजेच्छात’ इति व्याकुर्वन्ति ‘प्रार्थित’ इत्यादि। अस्मिन् पक्षे भगवतः कृपालुत्वं तिर इव भवति इत्यतः पक्षान्तरम् आहुः ‘अथवा निजा’ इत्यादि। नन्वेवं सति पूर्वं कुतो अन्यथा व्याख्यातम् इत्यत आहुः ‘परम्’ इत्यादि। ‘अविकृतत्वम्’ इति। विकृतत्वं प्राकृतगुणक्षोभकृतलौकिकविषयत्वम्, तद्विलक्षणत्वमविकृतत्वम्। तथा च जघन्याधिकारिणाम् इच्छाया विकृतत्वात्तदर्थं तथा पूर्वं व्याख्यातम्।

१. शेन सर्वांशैः इति पाठः. २. सर्वात्मनेति पाठः. ३. सर्वदा इति पाठः. ४. आत्मत्वम् इति पाठः.

ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ताबाधते, तत्र आहुः सर्वेषाम् इति।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥३॥

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तैः सहैव स्वस्याङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभुसम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापि इति अर्थः। इयं

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

उत्तमाधिकारिणां तु इच्छाया अविकृतत्वादिदानीमेवं व्याख्यातम्। अतो व्याख्यानद्वयमप्युचितमेव। अत्रायमर्थः। प्रार्थना हि प्रभोरसर्वज्ञत्वे उदासीनत्वे वा अन्यत्वे वा उपयुज्यते। अत्र च स्वकीयसर्वेश्वरत्वात्कालादिसर्वनियामकत्वाच्च नासर्वज्ञत्वम्। नियमनस्य ज्ञानकार्यत्वात्। तत्तदात्मत्वाच्च नोदासीनत्वम्। स्वात्मत्वान्नान्यत्वम्। एवं सत्यपि यत् स्वीयक्लेशोपेक्षणम्, तत्किञ्चि “दासक्तौ भगवानेवे”ति न्यायेन स्वस्य भक्तस्य वा कार्ययैव। तत्र भगवत्कार्यार्थत्वे स्वस्यान्यप्रार्थनमपराधा

वहम्। भक्तकार्यार्थत्वे स्वस्यैवानिष्टोत्पादकम्। अत एतदुभयं विचार्य प्रार्थना न कार्या किन्तु स्वस्वाधिकारानुसारेण विवेकधैर्ये एव रक्षणीये इति अर्थः। अत एव विवेकधैर्याश्रयेऽपि “प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयात्” इति उक्तम्॥२॥

ननु पूर्वोक्ते विचार्यमाणे लौकिकालौकिकी सेवोपकरणविषयिणी चिन्ता न भविष्यति, तथापि वक्ष्यमाणरीत्या सेवा अकरणविषयिणी धर्महानिचिन्ता तु भविष्यत्येवेति तन्निवृत्त्यर्थमग्रिमं वदन्ति इति आशयेन तृतीयं श्लोकमवतारयन्ति ‘ननु भगवत’ इत्यादि। “स्वधर्महानिचिन्ता बाधत” इति। स्वयं हि समर्पणक्रियायां कर्तृत्वेन प्रविष्ट इति समर्प्यन्तरापेक्षया मुख्यश्चेतनश्चेति अचेतनस्य स्वाधिष्ठितस्य देहादेः सदा भगवत्येव विनियोगः कर्तव्यः, तत्र च शरीरादिकं मुख्यम्। तेन सेवां चेन्न सर्वदा कुर्यात्, तदा तस्य स्वधर्मो हीयेतेति सा तथेति अर्थः। व्याकुर्वन्ति ‘स्वात्मने’त्यादि। ‘तत्रोपयोग’ इति। स्त्रीपुत्रादिषु स्वदेहेन्द्रियविनियोगे। शेषो अर्थस्तु स्पष्टः। तथा च यद्यपि समर्पणक्रियोत्पत्तिदशायां स्वस्य प्राधान्यम्, तथापि तदुत्तरदशायां स्वस्याप्यन्यतुल्यत्वात् यथा अचेतनानां वस्त्रादीनां भगवत्युपयोक्ष्यमाणानां परस्परं विनियोगे चिन्ताया अयोगः, तथा चेतनाधिष्ठातानां स्व शरीरादीनामप्यचेतनानां परस्परं विनियोगे चिन्ताया अयोगः। भगवत्युपयोक्ष्यमाणत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। तत्र स्वत्वाभिमानं न्यग्भाव्य भगवदीयत्वे अनुसंहिते स्वधर्महान्यभावात् का चिन्ता, न कापि इति अर्थः। ननु निवेदनेन सर्वेषां भगवदीयत्वरूपं सम्बन्धे तुल्येऽपि कस्यचिद्विशेषतः सेवायां विनियोगो

१.शरीराणाम् इति पाठः.

निवेदनेऽङ्गीकारमर्यादिति आहुः स्थितिरिति। कस्यचिद्विशेषतोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टिरितिभावः। अथवा। पुत्रादीनामन्यविनियोगदर्शनेपि स्वस्य का चिन्ता, तेषामप्यङ्गीकारेणैव कृतार्थतासम्भवात् इति अर्थः। किञ्च। स्वस्येतिपदमावृत्तमपिशब्देन सम्बध्यते ॥३॥

यथा पुत्रादीनाम्, तथा स्वस्यापि सः अन्यविनियोगश्चेत्, तदापि चिन्ता न कार्येति आहुः अज्ञानात् इति।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥४॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

दृश्यते, कस्यचित् स्वल्पः, कस्यचिन्न, तत्र हेत्वज्ञाने तु चिन्ता स्यात् एवेति तस्याः कथं निवृत्तिरित्यतस्तन्निवृत्तिप्रकारं स्थितिपदेन वदन्ति इति आहुः ‘इयम्’ इत्यादि। तथा च तत्र पुष्टिं कारणत्वेनावधार्य चिन्ता न कार्या, किन्तु “गन्धे अर्चिते तुलसिकाभरणे”ति न्यायेन सन्तोषो विधेय इति सुखेन तन्निवृत्तिः। एकत्र विशेषदर्शने अप्यन्यत्र निवेदनकृतभगवत्सम्बन्धस्यानपायान्न कापि चिन्तेति अर्थः। एवञ्चात्र वाक्यद्वयं प्रतिभाति, सर्वेषां प्रभुसम्बन्धा न प्रत्येकं न गुणप्रधानभावेन, अतस्तेषामन्यविनियोगे स्वस्य का चिन्तेत्येकम्; ‘इति’ उक्तरूपा ‘स्थिति’ निवेदने अङ्गीकारमर्यादा, इतो विलक्षणा तु पुष्टिः, अतः कस्य चिद्विशेषाङ्गीकारेऽपि चिन्ता केत्यपरम्। अत्राग्रिमवाक्ये ‘स्वस्ये’ति चेतनपरामर्शकपददर्शनात् पूर्ववाक्येपि ‘सर्वेषाम्’ इतिपदेन शरीराधिष्ठातृणामेव परामर्शो अयुक्तः, न तु चेतनाचेतनानां यावताम् इति पूर्वव्याख्यानमयुक्तम्। किञ्च, भगवति समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगे स्वधर्महानिस्तदा स्यात्, यदि तेषां समर्पितत्वं न स्यात्, समर्पितेषु विनियोगे तु “निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यात्” इति वाक्ये निवेदिनां समर्पणस्य कथनेन तस्य च समर्पणस्य निवेदिनां परस्परविनियोग एव सम्भवेन भक्तिमार्गमर्यादाबोधकादुक्तवाक्यादेव चिन्तोदयस्यासम्भव इति चारुच्यापक्षान्तरेण व्याकुर्वन्ति “अथवा पुत्रे”त्यादि। तथा च सेवा सम्बन्धिनां चेतनानां निवेदितव्यतिरिक्तसंसर्गविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्यर्थमयमुपदेशः। ‘पुत्रादीनाम्’ इति आदिपदेनाचेतनानामपि सङ्ग्रहः। उत्तरपूर्ववाक्ययोरेकजातीयमेव ग्राह्यम् इति अत्र नियामकत्वस्याभावात्। पूर्वव्याख्यानोक्ता चिन्ता तु पुष्टिमात्रविचारात्। साम्प्रतिका तु मार्गमर्यादात इति न कोपि दोष इति अर्थः। ‘स्वस्ये’त्यन्तरस्य पदराशेः पूर्ववाक्य एव सम्बन्धे शिष्टं ‘सोपि चेत्’ इति पदत्रयमलग्नकं तिष्ठति इति, तत्सम्बन्धाय आहुः ‘किञ्चे’त्यादि॥३॥

सम्बन्धं बोधयित्वा अर्थं वदन्तो अग्रिममवतारयन्ति ‘यथे’त्यादि। ‘स्वस्ये’ति। अनुभावज्ञानेन स्वस्मिन् विशेषाङ्गीकारं निश्चितवतो वा सेवाकर्तृत्वेन प्रधानस्य वा। ‘इति आहु’रिति।

१. निवेदिनो अङ्गीकारेति पाठः. २.नेति नास्ति. ३.विशेषतो अङ्गीकारे इति पाठः. ४.सम्बन्धित्वेन करणेति पाठः. ५.न कोपि दोष इत्यन्तमधिकं क्वचित्.

हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्मभिश्चिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्णसात्कृतप्राणैश्चिन्ता न कार्येति किं वाच्यम् इति अर्थः। केवलं प्रभवधीनीकृतप्राणानां चिन्ताविषयाभावादेव न सेति भावः। अत एव केतिशब्द उक्तः। पदसम्बन्धस्तु अज्ञानादथवा ज्ञानाद्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा नेतिशेषः। कृष्णसात्कृतप्राणैर्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा केत्युक्तम् ॥४॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

इतिपदं कैमुतिकबोधकेनाग्रिमवाक्येनाहुरिति अर्थः। व्याकुर्वन्ति 'हीने'त्यादि। 'हीनमध्यमाधिकारिभि'रिति। भगवतः सर्वरूपत्वेन मार्गप्रवर्तकोपदेशकगुर्वादिरूपताया निरवधिसच्चिदानन्दस्वरूपत्वेन परमफलताया निरुपधिभक्त्येकप्राप्यतायाश्चाज्ञानाद्धीनाधिकारिभिः। तादृशज्ञानवत्त्वेपि कृष्णसात्कृतप्राणत्वाभावेन मध्यमाधिकारिभिरित्यर्थः। शेषं व्याख्यानं तु स्पष्टार्थम्। तथा च स्वस्मिन् विशेषानुग्रहे निश्चिवतोपि यत्रान्यविनियोगसम्भवः, तत्र भगवदिच्छैव किञ्चित्कार्यार्थं तादृशी तेनावधार्या, न तु चिन्ता कार्या, तन्मूलभूतस्य स्वापराधस्याभावात् इति। तदेतदुक्तं 'केवलम्' इत्यादिना "केति शब्द उक्त" इति अन्तेन। कैमुतिकन्यायस्य स्पष्टीकरणार्थं पदसम्बन्धम् आहुः 'पदे'त्यादि "सा केत्युक्तम्" इति अन्तम्। अत्रेदमुक्तं भवति। एकादशस्कन्धे साधुलक्षणकथनसमाप्तौ "ज्ञात्वा अज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः। भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मता" इति भगवद्वाक्ये हीनमध्यमयोरप्यनन्यभावेन भजने भक्ततमतयोत्कर्षः कथितः। भगवदुद्धवसंवादसमाप्तौ च "न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि। मया व्यवसितः सम्यङ् निर्गुणत्वादनाशिषः। यो यो मयि परे धर्मः कल्पते निःफलाय चेत्। तदायासो निरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तमे"ति श्लोकद्वयं भगवतोक्तम्। तच्च श्रीधरीये "अङ्ग हे उद्धव, अनाशिषो निष्कामस्य मद्धर्मस्य उपक्रमे सति, अण्वपि ईषदपि वैगुण्यादिभिर्नाशो नास्त्येव। यतो मयैव निर्गुणत्वादयं धर्मः सम्यग्व्यवसितो निश्चितः, न तु मन्वादिमुखेन कथञ्चित्। ननु त्वद्धर्मस्य एवं सामर्थ्यम्, तस्मादन्यत्र कथम्, तत्र आह यो य इति। अयमर्थः। किं वक्तव्यं मद्धर्मस्य न ध्वंस इति, यतो लौकिकोपि यो यो निरर्थो व्यर्थ आयासः, सोपि मयि परे परमेश्वरे निष्फलाय कल्प्यते चेत्, निष्कामतया अर्पितश्चेत्, तर्हि स धर्म एव स्यात्, कर्मकरणायासो न निरर्थः स्यात्। "निरर्थायासे दृष्टान्तः यथा भयशोकादेर्हेतोः पलायनक्रन्दनादिस्तद्वत्" एवं व्याख्यातम्। तथा च निष्कामभगवद्धर्मस्य वैगुण्यादिभिरीषदपि नाशो नास्ति इति भगवता कथनात् प्रकृते चात्मनिवेदनस्य अधिकारतया तथात्वात् हीनाद्य-

ननु सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव सम्पद्येते, तथा च स्वयमात्मनिवेदने कृतेपि प्रभुरङ्गीकृतवान्नवेति चिन्ता भवत्येव, इति अत्र आहुः तथेति।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।

विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥५॥

पुरुषोत्तमोङ्गीकृतवान्नवेति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या उक्तनिवेदनवत्^{१०} इति अर्थः। पुरुषोत्तमेन निरोधलीलायां स्वतोन्यभजनं क्रियमाणा भक्तास्तन्निवार्य स्वयमात्मसात्कृता इति तादृशे स्वयं सर्वात्मना निवेदने कृते सा शङ्का नोचितेति ज्ञापनाय पुरुषो-

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

धिकारेपि साधनतः फलतश्च नाशाभावाच्चिन्ताया अभावो यत्र, तत्र मुख्याधिकारे किं वक्तव्यम् इति भगवद्वाक्यादेव सिद्धम्। तथा भगवदर्थो लौकिकोप्यायासो नापार्थ इति च। अतः पूर्वोक्तं सर्वं युक्तमेवेति तेषामुक्तचिन्ताजन्या विलापात्मिका परिदेवना का, न कापि इति अर्था देवोक्तम् इति अर्थः॥४॥

एवं निवेदितविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्युपायाम् उक्त्वा इदानीं निवेदनविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्युपायं वदन्ति इति आशयेनाग्रिममवतारयन्ति 'ननु सख्ये'त्यादि। प्रेमभक्तौ हि विहितश्रवणादिनवकं प्रत्येकं क्वचित् समुदितं च साधनम् तेष्वद्यं त्रयं सेव्यनिरपेक्षजीवमात्रसाध्यम्। पादसेवनमपि "पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पण" इति नवमस्कन्धवाक्योक्तरीत्या पद्ध्यां सेवनम् इति पक्षे पूर्ववदेव। पादयोः सेवनम् इति पक्षे तु सेव्यसापेक्षम्। तथैवार्चनादित्रयमपि। तथा सत्येतच्चतुष्टयं त्रयं वा सेव्ये तु चैतन्याप्राकट्येपि सिध्यति। सख्यात्मनिवेदने तु भजनीये चैतन्यप्राकट्यमपेक्षेते। यदि हि भजनीयो भक्ते सख्यं तत्कृतमात्मनिवेदनं च चैतन्यप्राकट्येनाङ्गीकुर्यात्, तदा भगवदङ्गीकारेण सम्पद्येते। तत्प्राकट्यं तु प्रेमभक्त्यधीनम्। साम्प्रतं तु तत्साधनदशा। तथा चेदानीं तत्प्राकट्याभावात् स्वयम् इत्यादिनोक्ता चिन्ता भवत्येव हीनमध्यमयोरिति अतस्तन्निवृत्ति उपायम् आहुरिति अर्थः। व्याकुर्वन्ति 'पुरुषोत्तम' इत्यादि। 'उक्तनिवेदनवत्' इति। मूलस्थस्य 'तथा'पदस्यार्थः अत्र च सप्तम्यर्थे वेतिः। तथा च यथा भगवद्धर्मोपक्रमरूपे निवेदने अन्यविनियोगादिना वैगुण्यतोपि भगवद्धर्मनाशाभावाच्चिन्ता त्यज्यते, तथा अङ्गीकारसन्देहरूपा निवेदनविषयिण्यपि सा त्याज्येति अर्थः। अत्र हेत्वपेक्षायां 'श्रीपुरुषोत्तम'

त्तमपदम्। तत्रापि स्वरूपानन्ददानेनानिशं पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्रोपयोगासम्भवेनैव न शङ्कोदय इति ज्ञापनाय श्रीपदम्। तथा च तद्युक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्येति भावः। कदाचिल्लोकभयाद्युपस्थितौ तन्निवारणाय जीवस्वभाववशादन्यविनियोगेपि तथेति^१ आहुः विनियोगेपि इति। प्रमादात्तथासम्भवेपि प्रभुर्न त्यक्ष्यति। यतस्तत्स्वभाववशात्तथा भूतमप्युद्धर्तुं तत्साधनानपेक्षः ॥५॥

अङ्गीकारे लक्षणान्तरमप्याहुः लोक इति।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥६॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

पदेन तं वदन्ति इति आशयेन तत्पदं विवृण्वन्ति, 'पुरुषोत्तमेने'त्यादि 'श्रीपदम्' इति अन्तम्। तात्पर्यं स्फुटीकुर्वन्ति 'तथा चे'त्यादि। सरसभक्तयुक्तो भगवान् हीन्द्रयागभङ्गगोवर्धनोद्धरणादिलीलाभिस्तथाकुर्वन् स्वीयान् पुष्पाति इति इन्द्रयागभङ्गादिबोधकाच्छब्दादेव भगवतस्तथास्वभावमवगत्य सा त्याज्या, स्वस्यानन्यभावेन भजनस्य निर्वहि कार्यलिङ्गकानुमानादेवाङ्गीकारं निश्चित्य सा त्याज्या भक्तानां दयालुत्वात् इति अर्थः। न च निवेदनगद्ये भगवतः केवलस्यैव सम्प्रदानत्वम् उक्तम् इति कथमत्र 'श्रीपुरुषोत्तम'पदेन भक्तयुक्ते निवेदनम् उच्यत इति शङ्क्यम्। एकादश एव 'रामेण सार्धम्' इत्यादिना या तावद्भक्तिः प्रशंसिता, तत्परमकारणत्वेनोपविंश आत्मनिवेदिधर्मा उक्ताः, तत्रात्मनिवेदनप्रकारो न स्फुट इति तत्रत्यं सर्वं सङ्गृह्य कल्पसूत्रवत् गद्ये प्रभुणोक्तः, अतः कृष्णपदेन तत्र ताभिः सहित एव परामृश्यते। तेन भक्तयुक्तस्यैव सम्प्रदानत्वम्। किञ्च, सदानन्दो हि भगवान् रसात्मक एव "रसो वै स" इति श्रुत्या सिद्धो, रसश्चालम्बनसापेक्ष एवेत्यतोपि तथेति न विरोधगन्धोपि। ननु सत्यमेवम्, तथापि स्वस्य कदाचित् कथञ्चिदन्यविनियोगे जाते तस्माद्विरुद्धकार्यादङ्गीकारे सन्देहो भवत्येवेति तद्रूपा सा कथं त्यक्तुं शक्येत्याकाङ्क्षायां तत्रोपायं वदन्ति इति आशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति 'कदाचित्' इत्यादि। 'न तथे'ति। न कार्या। व्याकुर्वन्ति 'प्रमादात्' इत्यादि। 'तत्स्वभाववशात्तथाभूतम्' इति। जीवस्वभाववशात् कदाचित् बहिर्मुखम्^२। तथा च तादृशस्य कदाचिदनन्यभजनाभावेनैवं बाहिर्मुख्ये तस्य जुगुप्सा तूत्पद्यत^३ एवेति तेन कार्येण सप्रतिबन्धकमङ्गीकारमनुमाय "हराम्यघं यत्स्मर्तृणां हविर्भागं क्रतुष्वहम्। वर्णश्च मे हरिच्चेष्टस्तस्माद्धरिरहं स्मृत" इति भारते भगवद्वचनात्, भगवतः स्वीयाघनिवर्तकत्वमनुसन्धाय अपराधिनां बकीबकादीनामप्यनुग्राहकत्वेन जीवकृ तसाधनानपेक्षत्वं चानुसन्धाय सा त्याज्येत्यर्थः। एतेनैतादृशदीनभावोत्पत्तिरङ्गीकारलक्षणम् इति उक्तम्॥५॥

एतद्दाढ्यार्थमन्यदपि वदन्ति इति आशयेनाग्रिममवतारयन्ति 'अङ्गीकार' इत्यादि।

१. न तथेति पाठः. २.बाहिर्मुख्यम्. ३.उत्पत्स्यत इति.

कदाचित् प्रवाहवशाल्लौकिके वाणिज्यादौ, वैदिके आश्रमधर्मादौ वा स्थितौ तत्र विघ्न एव भवति, न तु तत्फलम् इति अर्थः। तत्र हेतुः पुष्टि इति। तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वकर्ता यत इति भावः। पुष्टिमार्गाङ्गीकारे मर्यादां न सहत इति ज्ञेयम्। एवं सति किं कार्यम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः, साक्षिवत् तत्कृतं पश्यत ॥६॥

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।

अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥७॥

सेवाकृतिरिति। गुर्वाज्ञाया अबाधनं यथा भवति, तथा सेवाकृतिः पूर्वमपेक्षिता। एवं वर्तमानानां कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेत्, गुर्वाज्ञा विरुद्धा भवेत्, तदा तथा कार्यम् इति आशयेन आहुः। **बाधनं वा हरीच्छया।** विकल्पेनाबाधनम्^{१२} इति अर्थः। एवं सति गुर्वाज्ञाया

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

व्याकुर्वन्ति ‘कदाचित्’ इत्यादि। अत्र च ‘त्रैवर्गिकायासे’ति पूर्वोक्तं षष्ठस्कन्धवाक्यमेव बीजत्वेन ज्ञेयम्, पुष्टिप्रकरणस्थत्वात्। तथा च यथा वृत्रस्य तादृश सङ्कष्टोपस्थितावपि भगवत्प्रसादानुमितिरेव जाता, तथास्यापि लौकिकवैदिकास्वास्थ्योप

स्थितौ यद्भगवत्प्रसादानुसन्धानम्, तदप्यङ्गीकारलक्षणम्। एतादृशबोधवन्तं प्रत्युपदिशन्ति ‘साक्षिण’ इत्यादि। तद् व्याकुर्वन्ति “साक्षिवत् तत्कृतं पश्यते”ति। तथा च ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदो अपरे। यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्मम” इति सप्तमस्कन्धस्थभगवदीयगृहस्थप्रकरणस्थवाक्यात् पूर्वोक्तरीत्या एतदाचार्यवाक्येन लौकिके वैदिके साक्षिवत् भगवत्कृतित्वदर्शनं यत्तदपि तल्लक्षणम् इति अर्थः॥६॥

नन्वत्रास्वास्थ्येपि साक्षिवत्कृतिदर्शनोपदेशेन त्रिदुःखसहनरूपं धैर्यमेव साधनत्वेनोक्तं भवति, ततश्च तावन्मात्रस्य कर्तव्यत्वे सेवायाः सम्यगसम्भवान्निवेदनवैयर्थ्यं तु स्यादेवेति प्रकारान्तरेण धर्महानिचिन्ताप्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थमुपदिशन्ति इति आशयेनाग्रिमवतारयन्ति ‘एवं सति’त्यादि। व्याकुर्वन्ति ‘गुर्वाज्ञाया’ इत्यादि। ‘तथा कार्यम्’ इति। बाधनं कार्यम्। तथा च “यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ”विति श्वेताश्वतरश्रुतेर्नैवो अपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश ब्रह्मादयोऽपि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः। “यो अन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति” इति एकादशवाक्यादिभ्यश्च गुरुरेव मुख्य इति। गुर्वाज्ञाबाधनाभावपूर्वकं सेवाकृतिरात्मनिवेदिधर्मः स यादृशेन साक्षिवत् तत्कृतिदर्शनेन न विघटितो भवति, तादृशतया साक्षिवत् स्थातव्यम्, न तु सेवाविरुद्धतया। तेन लौकिके विषये साक्षिवत् स्थेयम्, न तु सेवाविषये इति सिध्यति। तत्रापि हरीच्छा विचार्या, अबाधने बाधने वा सास्ति इति। सा च भगवदनुभावमनुभवतो बुद्धिगोचरो भवति, अन्यस्य^{१३} तु फलबलकल्प्या। एवं सति यथाधिकारं तां बुद्ध्या कार्यम्। ततो न स्वधर्महानिरिति अर्थः। एतदेव निगमयितुमुत्तरार्धम् इति आशयेनावतारयन्ति “एवं सति” इत्यादि।

१. बाधनम् इति पाठः. २.अस्येति पाठः.

अबाधने बाधने वा सेवैव मुख्या यतो अतस्तथैव स्थेयम् इति आहुः अत इति। एवं सति पर्यवसितं सुखमेवेति आशयेन सुखम् इति उक्तम् ॥७॥

कदाचित् पुत्रादिवियोगशङ्काजनितदुःखेन चिन्तासम्भवे गतिम् आहुः चित्तोद्वेगम् इति।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।

तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥८॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

तथा च यथा राजभोगसमये नेत्रे निमील्य बीजयन्तं बृहद्रामदासं प्रति भगवता श्रीगोवर्धनेश्वरेण साक्षाद्भुञ्जानां मामुन्मील्य पश्येत्याज्ञप्ते, ममाचार्याज्ञा भोगसमये दर्शनविषयिणी नास्ति इति नोन्मीलयिष्याम् इति तैः प्रयुक्तम्, तदा भगवान् प्रसन्न आसीत्। सामग्रादिविषयिण्यां विशेषाज्ञायां तु साधारण्याचार्याज्ञा बाध्यते, तदा नाप्रसन्नो भवति। तेन सेवाया एव मुख्यत्वम्, अतस्तदनुसारेणैव स्थेयम् इति अर्थः। अत्रापि “परिनिष्ठा तु पूजायाम्” इति निवेदिप्रकरणस्थं भगवद्वाक्यमेव बीजत्वेन ज्ञेयम्। सर्वतो नितरां निरवधितया वा स्थितेरेव परिनिष्ठापदार्थत्वात् इति॥७॥

ननु भवत्वेवमल्पदुःखोपस्थितौ साक्षिवत् स्थितिः, महादुःखोपस्थितौ त्वेवं स्थितिरशक्येति आशङ्कानिवृत्यर्थमग्रिमं वदन्ति इति आशयेनाग्रिमवतारयन्ति ‘कदाचित्’ इत्यादि। मूलव्याख्यानं तु स्पष्टत्वात् न कृतम्, परं तत्रायं भावः। अवश्यंभाविना दुःखस्याप्रतीकार्यत्वात्तत्र चित्तसमाधानमेवोपायः। तच्च नानोपायैर्भवति। यथा सप्तमस्कन्धे यमप्रेतसुयज्ञबन्धुसंवादे “अहो अमीषां वयसाधिकानाम्” इत्यादिना यमप्रदर्शितलोकगतिज्ञानेन सुयज्ञबन्धूनां जातम्, यथा च षष्ठस्कन्धे “यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः। पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवा योनिषु कर्तृषु” इति जीववाक्याज्जीवस्य सर्वसाधारण्यज्ञानेन चित्रकेतुप्रभृतीनाम्। यथा च “पित्रोः स किन्तु भार्यायाः स्वामिनोः श्वगृध्रयोः। किमात्मनः किं सुहृदाम् इति यो नावसीयत” इति देहस्य सर्वसाधारण्यज्ञानेन पुरुरवसः। एवमन्येपि बोध्याः। ते केपि नात्मनिवेदिनामुपयुज्यन्ते, भगवत्स्मरणोदासीनत्वात्, किन्तु प्रभासीयलीलायां “नैषां वधोपाय इयानतो न्य” इति एकादशीयभगवद्विचारानुवादवाक्यात् सा लीला यथा भक्तानां चित्तोद्वेगं विधाय, या कृता लोकमर्यादारक्षणार्थम्, अग्रे तेषां नित्यसुखदानार्थं च, तथा चित्तोद्वेगं विधाय अपिशब्दादविधाय च हरिः स्मर्तृणां प्रारब्धादिरूपाघहारको भगवांस्तद्भरणार्थं यद्यत् शुभत्वेनाशुभत्वेन वा आपाततः प्रतीयमानं करिष्यति, तत्कार्यं साक्षाद्वा केनचिद्द्वारेण वा तस्य अस्मदीश्वरस्यास्मदात्मनो भगवतस्तथैव लीला, अनेन प्रकारेणास्माकं महतो अघस्य नाशनाय मायिकी लीलेति मत्वा साधकबाधकप्रमाणैरनुचिन्त्य चिन्तां उद्वेगजनिकां वा तज्जनितां वा तद्रूपां वा द्रुतं शीघ्रमेव त्यजेत्। तस्याः बहुकालं स्थाने कालकर्मस्वभावानां प्रबलत्वेन तया असुरप्रवेशरूपमहोपद्रवसम्भवेन मुख्यफलप्रतिबन्धो वा विलम्बो वा स्यात्, अतो मङ्क्षुं त्यजेत् इति भावः॥८॥

नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति। तथाहि। श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तागतौ हि पश्चान्निवेदनवार्ता। तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापम् इति दूरतरा निवेदनदिगपि। अतस्तत्कृतचिन्तान्यवियोगचिन्तादिसमाहितिर्निरर्थेति विचार्य साधनफले^१ एकीकृत्य सर्वसमाधानम् आहुः तस्मात् इति ॥८॥

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।

वदद्भिरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥९॥

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

एवमत्र पुष्टिमार्गस्थस्य पूर्वं सेवोपकरणकरणकर्तृनिवेदनविषयकचिन्तानिवृत्त्युपायत्वेन स स विचार उपदिष्टः, ततः सेवाकृत्यविरुद्धतया साक्षिवत् स्थित्युपदेशेन सेवायां स्थितेश्चोपदेशेन वैराग्यरागौ विषयभेदेन व्यवस्तापितौ। चित्तोद्वेगे च लीलाविचार उपदिष्टः तदिदानीं सर्वमशक्यम्, कालादिकृतगुणक्षोभेण चित्तस्थैर्यस्य दुर्घटत्वात्, अतो अयमुपदेशो नुपदेश एवेति आशङ्क्य कृपया तत्सिद्ध्यर्थमुपायमधुनोपदिशन्ति इति आशयेनाग्रिमवतारयन्ति ‘नन्विदम्’ इत्यादि। “तदेव दुरापम्” इति। श्रवणं हि भगवद्वाचकपदवाक्यानां गुरुमुखाच्छक्तितत्पर्यनिर्धारः। तत्पूर्वकमन्यस्याग्रे कथनं कीर्तनम्। तेषामर्थानुसन्धानं स्मरणम्। तदिदानीं सर्वतद्विदो गुरादौर्लभ्येन श्रवणस्य दुरापत्वे कीर्तनस्मरणयोरपि तथात्वम्। तदभावे भगवत्स्वरूपज्ञानाभावात् पादसेवनादीनामपि भगवद्विषयत्वाभावात्तथात्वम्। एवं कालादिभिः प्रतिबन्धकैः प्रत्येकमपि द्रष्टव्यम्। “साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानम् आहुः” इति। साधनं श्रवणाद्यष्टकम्। फलमात्मनिवेदनम्। ते उभे एकीकृत्य स्वासाध्यत्वेन तस्यां कोटौ निक्षिप्य पूर्वोक्तस्य सर्वस्य सुसाध्यत्वं यथा भवति, तादृशं तत्सम्बन्धिसमाधानम् आहुरिति अर्थः। समाधानं व्याकुर्वन्तः शरणागतेः समाधायकत्वे बीजम् आहुः ‘यस्मात्’ इत्यादि। भक्तिमार्गे प्रवेशे तत्र रुच्यादौ चानुग्रह एव हेतुरिति वरणश्रुत्या भक्तिहेतुनिर्णये व्युत्पादितम्। तस्मिन् सति यदा सेवाप्रतिबन्धसम्भवः, तदा प्रारब्धकालस्वभावानामेव हेतुत्वम्। तन्निवृत्तिस्तत्सर्वनियामकेन प्रभुणैव भवति नान्यतः। तत्र च शरणागतिरेव साधनम्। “सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः” इति भगवद्वाक्यात्। “देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम्” इति एकादशस्कन्धे करभाजनवाक्याच्च भगवतः शरण्यता। तस्मादङ्गीकृतस्य जीवस्योक्तरीत्या अशक्तौ शरण्यत्वात् प्रभुरेव सर्वं सम्पादयिष्यति इति आचार्याणाम् आशय इति अर्थः। एतेनाष्टमस्कन्धप्रतिपादित “आपत्सु हरिसंस्मृति” इति भगवद्भक्तिसम्पादक आपद्धर्मोपि गजेन्द्रस्येवास्यापि सिध्यति इत्यपि बोध्यम्। नन्वेवं सति

१. भगवद्भक्तद्वारा भगवच्छरणगमनं तदनुसन्धानं च साधनम्. फलं भगवदङ्गीकारः. ततो भगवद्भक्तद्वारा भगवच्छरणगतौ भगवता निवेदनस्याङ्गीकाराद्भक्तितत्त्वमनियमाभावान्निवेदनसिद्धेस्तत्र चिन्तासाधनानामयुक्तत्वात् इति भावः.

यस्मादुक्तरीत्या स्वतः सर्वमशक्यमतः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यति इति हृदयम्। भक्तिमार्गीयान् सर्वानंशान् विचार्य तत्र प्रतिबन्धं स्वाशक्तिं च स चेत् पश्यति, तदा सर्वात्मना तथा भवति। नित्यम् इति नैरन्तर्यमुच्यते। अन्यथा कालेनासुरधर्मप्रवेशः स्यात्। अन्तःकरणे तथाभावे अतथाभावे वा तथावदनम् आवश्यकम् इति ज्ञापयितुं सततमेवं वदद्भिरिति उक्तम्। एवं सति लोकशिक्षाप्यानुषङ्गिकी सिध्यति। एवमुक्तप्रकारेण सेवापरतया स्थेयम् इति अर्थो वा। नन्विदमपि न स्वशक्यम् इति आशङ्क्य “यमेवैष वृणुत” इति श्रुतेर्ममतिरित्येव, एवंप्रकारिकैवेत्यर्थः।

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

प्रथमत एवेदं साधनं कुतो नोपदिष्टम् इत्यत आहुः। ‘भक्ति’ इत्यादि। “सर्वात्मना तथा भवति” इति। श्रीकृष्णाश्रयोक्तरीत्या सर्वेषां सहकारिणामतथात्वमसहायत्वं च निश्चित्य, विवेकादीनां भक्त्यन्तानां साधनानां स्वासाध्यत्वं च निश्चित्य, दीनभावेन सर्वैः प्रकारैः शरणागतिर्भवति। तथा च प्रागेवोपदेशार्हत्वेपि यदधुना सर्वान्त उपदिष्टम्, तत् सर्वात्मना सर्वैः प्रकारैर्भवनार्थम् इति अर्थः। ‘आसुरधर्मप्रवेश’ इति। बाहिर्मुख्यजनकाहङ्कारप्रवेशः। ‘तथावदनमावश्यकम्’ इति। वाचस्तेजोमयीत्वेन वदनक्रियायां वैखरीत्वेपि वक्तुः पश्यन्ति प्रकाशयन्त्यन्तःकरणमासुरधर्मात् परावर्तयेदत आवश्यकम्। परोपकारयापि भवेत्, अतश्च तथेति बोधनायाहुः “एवं सति” इत्यादि। एवं सत्याश्रयस्यैव मुख्यता आयाति इति सेवावश्यकत्वबोधकपूर्वग्रन्थविरोध इत्यतः प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति “एव मुक्ते” इत्यादि। एवं वदद्भिः सर्वचिन्ताराहित्यपूर्वकं सेवापदतया स्थेयम्। तथा चाङ्गत्वेनैवात्र शरणोपदेशो, न तु मार्गत्वेन, अतो न विरोध इति अर्थः। स्वमत्यानिष्कर्षकथनस्य तात्पर्यम् आहुः ‘नन्वि’ इत्यादि। इदं सर्वात्मना शरणगमनमपि न स्वशक्यम्, “सोहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापम्” इति अक्रूरस्तुतौ तथा सिद्धत्वात् इति आशङ्क्य “यमेवैष वृणुत” इति वरणलभ्यत्वबोधकश्रुतेर्ममतिरेवंप्रकारिकैव। भगवता यदानुगृह्यते, तदैव सर्वात्मना शरणागतिर्भवति, नान्यथा। “तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्गः। त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात्” इति तत्रैव वाक्यशेषात्। तथा चास्मिन् मार्गे कृपैव साधनम्, अतः श्रुति अनुसारेण मार्गप्रवेशतद् रुच्यादिना वरणमनुमाय मदीयैरेवमेव कर्तव्यं वक्तव्यं च। यदि च न तन्निर्वाहः, तदा प्रतिबन्धकमनुमेयम्। भगवच्छास्त्रे एतदतिरिक्तस्य दृढस्य सर्वप्रतिनिधिभूतस्य साधनान्तरस्याभावात्। गीतायामन्ते एतस्यैव शोकाभावार्थमुपदेशेन तथा निश्चयात्। एतद्वाक्यान्तःस्थस्य श्रीकृष्णपदस्य भक्तसहितपुरुषोत्तमवाचकतायाः सुप्रसिद्धत्वेन मम स एव शरणम् इति तस्मिन् स्वरक्षकत्वबोधनेन वाक्यतात्पर्यस्य तत्रैव निधारे गुरुमुखाद्वृत्ते श्रवणस्य तत्पूर्वकाणामन्येषां च स्वरूपफलयोस्तत एव सुखेन सिद्धेरिति॥९॥

एवं सर्वं व्याख्याय ग्रन्थकरणस्यान्ते शरणमन्त्रावृत्तिकथनस्य च प्रयोजनम् आहुः

भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य दाढ्यार्थमिदमुच्यते ।
 अन्धस्य सूर्य इव तद्विमुखस्यात्र नार्थिता ॥१॥
 भक्तिमार्गसुधासिन्धोर्विचारमथनैः स्वयम् ।
 स्फुटीकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्यपण्डितैः ॥२॥
 मयोज्ज्वलीकृतानीत्थं हृदि धृत्वा ब्रजाधिपम् ।
 भजन्तु भक्ता येनासौ न विमुञ्चति कर्हिचित् ॥३॥
 इति श्रीश्रीविट्ठलेशदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः

श्रीमत्पुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम्।

‘भक्तिमार्ग’ इत्यादि। भगवत्कृपया यो भक्तिमार्गे स्वकृतार्थत्वाय प्रवृत्तः, तस्य दाढ्यार्थं तदुक्तरीत्या फलावश्यंभावनिश्चयेन प्रवृत्त्यविघातार्थं इदं नवरत्नं शरणमन्त्रावर्तनं चोच्यत आचार्यैरुपदिश्यते। तस्यैवोद्वेगनिवर्तनस्य प्रभूणामनन्य^{१४} जनवत्सलतयावश्यकत्वात्, न तु साधारणार्थम्। तत्र हेतुः ‘अन्धस्ये’त्यादि। ‘तद्विमुखस्ये’ति। भक्तिमार्गाद्विमुखस्य। ‘अत्रे’ति। चिन्तानिवृत्युपायबोधकेस्मिन् ग्रन्थे। शरणमन्त्रावर्तने च। तथा चार्थित्वस्य अधिकारिविशेषणत्वाद्विमुखस्य चार्थित्वाभावेनाधिकाराभावात्तदर्थं नोच्यत इति अर्थः। एतस्य ग्रन्थस्य भगवत्सिद्धान्तसारत्वबोधनायाहुः ‘भक्ति’ इत्यादि। ‘श्रीमदाचार्यपण्डितै’रिति। मयूरव्यंसकादिसमासः। पण्डितत्वं च न केवलं सदसद्विवेकबुद्धिमत्त्वम्, शास्त्रोत्थबुद्धिमत्त्वं वा, किन्तु “पण्डितो बन्धमोक्षवि”दित्येकादशे भगवद्वाक्यात्, “यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधा” इति गीतायां भगवद्वाक्याच्च तादृशधर्मवत्त्वं विवक्षितम्, अन्यथा भक्तिमार्गविचारस्यासम्भवात्। “भगवान् ब्रह्म कात्स्न्येने”ति द्वितीयस्कन्धवाक्येन भक्तिमार्गस्य सर्वश्रुतिसारत्वनिश्चयात् इति। स्वकृतविवरणप्रयोजनम् आहुः ‘मये’त्यादि। तथा चैतदर्थं विवरणम् इति अर्थः।

एवं चात्र एतत् सिद्धम्। भगवत्सेवैकतानचित्तेन यथाशक्ति सेवां कुर्वता दुःसङ्गवर्जनपूर्वकं स्वस्य स्वपरिकरस्य च भगवदीयत्वमनुसन्दधानेन पूर्वोक्तरीत्या सर्वविधचिन्तास्त्यजता सर्वत्र स्वाशक्त्यनुसन्धानेन भगवत एव शरणत्वमनुसन्दधानेन यदा स्थीयते, तदा उद्वेगाख्यप्रतिबन्धनिवृत्या सेवाया आधिदैविकीत्वं सम्पद्यते। तस्मादुक्तरीत्या सेवापूर्वकं सर्वात्मना शरणगमनमेव परं साधनम् इति।

नवरत्नभासनकृतां वचसां मम यत्नपूर्वकमुपासनतः।

ब्रजरत्नहृद्यकृपयास्तु^{१५} सुखादसपत्नचैतससपत्नहतिः॥१॥

इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणैकतानस्य पीताम्बरस्य तनुजेन पुरुषोत्तमेन
 कृतो नवरत्नविवृतिप्रकाशः सम्पूर्णः॥

१.अनन्यभजनेति पाठः. २.ब्रजरत्नहृद्यकृपयैव भवेदसपत्नचैतससपत्नहतिरिति पाठः.

॥श्रीकृष्णाय नमः॥
नवरत्नम्
श्रीविट्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पदाम्बुजरेणवः ।
स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥१॥

ननु भगवदीयानां कथं चिन्तोद्भवः। इत्थम्। आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः, नेतरे। तत्र चैहिकपारलौकिकयोरर्थयोर्नावशिष्टं किञ्चिदसमर्पितम्। एवं सति देहादिनिर्वाहः केन कार्यः।, किं निवेदितार्थेन, उत इतरेण वा। तत्र नाद्यः। तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुमशक्यत्वात्, इच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात्। वस्तुतस्त्विच्छायामपि सत्यां तदुपयोगो अनुचितः सेवकस्य। न च तदीयानां देहादीनां तदीयार्थेन पोषणं न दोषायेति वाच्यम्। स्वतस्तथाकृतेर्दोषावहत्वात्तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् इति उक्तम्। न द्वितीयः,

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणी।
चिन्तात्रयनिवृत्त्यर्थमुद्भिन्ननवरत्नकाः।
समुज्ज्वलीकृततदः प्रसीदन्तूभये मयि॥१॥

नवरत्नप्रकाशे। ‘चिन्तासन्ताने’ति। यत्पदाम्बुजरेणवः समाश्रिता देहेन्द्रियादिकं शोधयन्ति, (वासनात्मकं लिङ्गं नाशयन्ती) त्यन्तःकरणशोधनद्वारा चिन्तानां वक्ष्यमाणानां सन्तानो वक्ष्यमाणप्रकारेण तन्निवर्तनेपि कुसृष्ट्युद्भावनं तद्धन्तार इति अर्थः। ग्रन्थे चिन्ताः स्वयमेव निवर्तयिष्यन्ति, चित्ताशुद्ध्या कुसृष्ट्युद्भावनं तु चरणरेणुसमाश्रयनिवर्त्यम् इति भावः। ‘नन्वि’ति। किंप्रकारकचिन्तोद्भवः सम्भवति इति शेषः। ‘इत्थम्’ इति। ग्रन्थे वक्ष्यमाणास्तिस्रश्चिन्ता भगवदीयानामपि हीनमध्यमाधिकारिणां सम्भवन्ति इति अर्थः। ग्रन्थाद्भिन्नामप्येकां चिन्तां पूर्वोक्तेषु सम्भावितां स्वयमेव प्रमाणवाक्यैः समाधातुम् आहुः “आत्मनिवेदिनो हि” इति। एतन्निरासस्य प्रमाणवाक्यैः स्पष्टत्वान्मूले अकथनम् इति भावः। ‘तत्र चे’ति। निवेदने जाते सत्यैहिकसुखसाधकानि स्त्रीपुत्रवित्तादीनि पारलौकिकसुखसाधकान्यग्निहोत्रादिकर्माणि भगवदीयान्येव जातानि इति अर्थः। ‘एवं सति’ इति। वित्तसमर्पणे कृते सति इति अर्थः। ‘देहादि’ इति। आदिपदेन गृहादिकम्। तथा च गार्हस्थ्यनिर्वाह इति अर्थः। ‘इतरेणे’ति। निवेदनात् पूर्वमेव स्थापितेनानिवेदितेनेत्यर्थः। ‘अस्वधर्मत्वात्’ इति। निवेदितस्य देहादेस्तदीयार्थेन पोषणं दोषावहम् इति उक्तम्। अनिवेदितेन च पोषणमस्वधर्म इति अर्थः। दूषणान्तरमप्याहुः

अस्वधर्मत्वात्। निवेदितस्यार्थस्य स्थित्याद्यर्थं स्वस्य विचारस्याप्यनुचितत्वात्। तदभिमाने तत्सम्भवात्। एवं सति देहादिनाशसम्भवेन भजनासम्भवात्तद्वैयर्थ्यापातः। मार्ग एव चायमुच्छिद्येत। अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाह इति उभयतःपाशारज्जुरिति चेत्। अत्र वदामः। “दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्। एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्। मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यत” इत्यादिवाक्यैस्तद् आवश्यकम्। साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्युपदेशजसंस्कारवत्। (निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्ध्यर्थमावश्यकव्यवहारार्थं निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोगः कार्यः।) अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने अकृते अग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः। अपरं च। दाने हि न स्वविनियोगो, न तु निवेदने। अन्यथा निवेदितान्नादेर्भोजनं न स्यात्। अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्। निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा, दासधर्मत्वात्। “उच्छिष्टभोजिनो दासा” इत्यादिवाक्यैः। आत्मशोधकत्वाच्च। किन्तु प्रभौ निवेदितार्थस्य विनियोगे जाते अग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो नवेति भवति चिन्ता। *तत्करणे

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणी।

‘निवेदितस्यार्थस्ये’ति। निवेदितपदार्थस्य देहगेहादेः। ‘स्थितिरादि’पदेन तत्सम्बन्धीनि गृहादिकार्याणि विवाहादीनि च तदर्थं स्वस्य विचारोप्यनुचितः। तत्र हेतुः। ‘तदभिमाने’ इति। स्थापनीये। सति इति शेषः। देहे स्वकीयत्वाभिमाने स्थापनीये सत्येतादृशो विचारः सम्भवति। एतस्य तु देहे भगवदीयत्वमेव सम्पादनीयम्, अतः स्वस्य तद्विचारोप्यनुचितः, भगवानेव विचारयिष्यति इति ‘स्वस्येति’ उक्तम्। तथा च देहस्थित्याद्यर्थं पूर्वमेव किञ्चित्, पदार्थानिवेदनं नोचितम् इति अर्थः। एवं सति’ इति। पक्षद्वयप्रकारेणापि देहाद्यनिर्वाहे सति इति अर्थः। ‘तदावश्यकम्’ इति। वाक्येषु निवेदनकथनात् सर्वनिवेदनमावश्यकम्, न तु पदार्थविनियोगेन बाधितम् इति अर्थः। बाधितत्वे भगवान्न वदेत् इति भावः। ‘साक्षात्’ इति। भजने सर्वाधिकारत्वोक्तावपि सत्त्वव्यवहितस्यैव भजने तथा। साक्षात् पुरुषोत्तमभजने तु निवेदिनामेवाधिकार इति भावः। ‘अन्यथे’ति। निवेदितपदार्थस्य स्वयमग्रहणे दारानुपयोगोपि प्राप्येत, तथा च न तथेति अर्थः। ‘दाने हि’ इति। पुत्रवित्तादिकं निवेदितम्, न तु दत्तम् इति अर्थः। निवेदितोपभोगे प्रकारकथनायाहुः ‘निवेदितानाम्’ इति आरभ्य ‘शोधकत्वात्’ इति अन्तम्। तथा चेयं चिन्ता तु प्रमाणवाक्यैर्युक्तिभिः परिशीलितैर्निजाचार्यपदाम्बुजरेणुसमाश्रयकृतचित्तशुद्धेः कुसृष्ट्यनुद्धावनेन च निवर्तते। अतोत्र समाधेयामन्यां चिन्ताम् आहुः ‘किन्तु’ इति आरभ्य

(*किञ्च. तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भव इति आरभ्योक्तचिन्ताभावायेदमत्र विचार्यते. सेवार्थं यत्नकरणे बाहिर्मुख्यं सेवाप्रतिबन्धश्च न सम्भवति. तस्य सेवाङ्गत्वेन तत्पूरकत्वात् तदकरणे तदसम्भवाच्च.

१. चिह्नान्तर्गतं टिप्पणं पाश्चात्यं प्रभूणाम् इति प्रतिभाति.
बाहिर्मुख्यसम्भवः सेवाप्रतिबन्धश्च। ‘त्रैवर्गिकायासे’तिवाक्यात्

भगवत्कृतप्रतिबन्धश्च तत्र स्यात्। अकरणे निवेद्याभावेन भवति च दुःखम्। एवं भूतान् स्वानुपदिशन्ति चिन्ता कापि न कार्येति।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।

भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥१॥

लौकिकतदभावेपि भगवदर्थपि सा न कार्या। एतद् आहुः कापि इति शब्देन अङ्गीकारेणैव सर्वं स्वत एव करिष्यति इति विश्वासो यतस्तस्यावश्यकः। भगवतोपि तथानियमः। कदाचित् परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुश्चेद्विलम्बते, तदापि न कार्येति आहुः कदापि इति पदेन। ननु लोकवत् कुटुम्बाद्यासक्त्या स्वस्यापि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्,

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणी।

“भवति च दुःखम्” इति अन्तेन। ‘एवंभूतान्’ इति। यत्नकरणाकरणचिन्तायुक्तान् उभयपक्षसमाधायकवाक्येनोपदिशन्ति इति अर्थः। तत्र समाधानं “चिन्ता न कार्ये”ति। पूर्वसिद्धानिषिद्धवृत्तौ सहजसिद्धयत्नकरणेपि तस्य यत्नस्य चिन्ता अनुचिन्तनं कथं इदं कार्यम् इति मनसा सर्वथा तद्भावनां न कार्यम् इति अर्थः। अग्रेपि वक्ष्यन्ति वाणिज्यादावास्थितौ तत्र विघ्न एव भवति इति। आस्थितिः कायवाङ्मनसां तदीयत्वम्। तथा चानास्थया यत्नकरणे पक्षद्वयोक्तोपि दोषो न भविष्यति इति भावः। ‘लौकिके’ति। स्त्रीपुत्रादिनिर्वाहकयत्नानास्थायामपि भगवन्नैवेद्यार्थकयत्ने आस्था सम्भवति, सापि न कार्येति अर्थः। तत्राप्यास्थायां तत्सम्पादकेषु आस्थितिसिद्ध्या बाहिर्मुख्यं स्यादेवेति भावः। नन्वनास्थया कृतो यत्नो न सिध्येत् इति आशङ्क्योत्तरार्थार्थं सामान्यत आहुः ‘अङ्गीकारेणैवे’ति। स्वस्यैदासीन्येपि भगवान् स्वाङ्गीकारेणैव हेतुना सर्वं यत्नं सिद्धं करिष्यति इति अर्थः। ‘विलम्बते’ इति। औदासीन्ये तत्कृतो यत्नः कदाचिन्न सिध्यति चेत्तथाप्यग्रिमयत्ने आस्था न कार्येति अर्थः। ‘ननु लोकवत्’ इति। लोकस्येव कुटुम्बासक्त्या भगवदङ्गीकारस्यासिद्धत्वेन लोकस्येव स्वस्यापि लौकिकीं लोकसदृशीं गतिमास्थापूर्वकं विचार्य यत्नकरणे एव

न च ‘त्रैवर्गिकायासे’ति वाक्यात्तत्र भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति वाच्यम्। त्रैवर्गिकपदवैयर्थ्यापत्तेः। अन्यथा आयासविधातम् इत्येतावतैव चारितार्थ्यं स्यात्। अतः स्वकीयानां त्रैवर्गिकायासविधातमेव भगवान् करोति, न स्वसेवार्थकायासविधातम् इति निश्चीयते। अन्यथा यत्नमात्रस्य निषेधे भजनमार्ग एवोच्छिद्येत। नन्वात्मनिवेदिनामितरयत्नासम्भवेन तज्जनितचिन्ता अभावात् कथं चिन्ता ना कार्येत्युपदेश इति चेत्। अत्रेदं प्रतिभाति। भजनमार्गे हि भगवदङ्गीकारस्त्रिविधः। पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन। तत्रापि वै त्रैविध्यम्। तत्र पुष्टिपुष्टावङ्गीकृतस्य नेतरयत्नसम्भावनापि। परं मर्यादापुष्टौ प्रवाहपुष्टौ चाङ्गीकृतस्य तत्करणं मर्यादाप्रवाहांशः, तद्विधातः पुष्ट्यंशः। तथा चात्मनिवेदिनां मर्यादाप्रवाहसंवलितानां यथेतरयत्ने कृते बाहिर्मुख्येसेवाप्रतिबन्धतद्विधातादिकं भवति, तथा सेवार्थकेपि यत्ने भविष्यति इति भवति चिन्ता। अतस्तदभावाय तान् प्रति चिन्ता कापि न कार्येति उक्तम्। अतः सेवार्थं यत्नः कर्तव्य एवेति नानुपपत्तिः काचित्।)

१. लौकिकि इति पाठः. २. भोजनार्थम् इति पाठः. ३. उपदिशन्तीत्यन्तेनेति पाठः.

तत्र आहुः भगवानपि इति। यतः पुष्टिस्थो अतो मर्यादामार्गीयवैराग्याद्यभावेपि “महापुरुषेण निवेदिता” इति स्वकीयत्वेनाङ्गीकारात् तथा न करिष्यति इति अर्थः ॥१॥

एवं चेत्, स्वाच्छन्द्यव्यवहारापत्या बाहिर्मुख्यं स्यादत आहुः निवेदनम् इति।
निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥२॥

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यति इति भावः। अशक्त्या सेवाद्यसम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तुशब्दः। चकारपक्षे समुच्चयः। सर्वथेत्यस्य आवश्यकत्वज्ञापनाय। अथवा। सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तैः सह तथा। एतेन सङ्गदोषो निवारितः। अतादृशेष्वेतद्गोपनं सूच्यते। सर्वदेतिपाठे कालापरिच्छेदस्तत्रोच्यते। अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यात् इति भावः। कदाचिदलौकिकार्थस्य लौकिकस्य वा सिद्ध्यर्थं प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेति आहुः सर्वेश्वर इति। अत्र सर्वशब्दो निवेदितात्मसर्वपरः। यथा “सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या” इति अत्र निमन्त्रिता एव सर्वपदेनोच्यते, न त्वन्येपि। सर्वात्मपदेऽप्येवं ज्ञेयम्। तेन सेवकाः सर्वे यथा – यथा प्रपन्नाः, तथा – तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गी-

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणी।

तत्फलसिद्धिरन्यथा नेतिरूपां नीतिशास्त्रानुरोधेन कुर्यात् इति अर्थः। ‘यत’ इति। पुष्टिः प्रवाहो मर्यादा चेति मार्गत्रयम्, तन्मध्ये अत्र पुष्टिस्थो भगवान्, अतः कुटुम्बासक्त्या मर्यादामार्गीयवैराग्यादिसाधनाभावेपि पुष्टिमार्गीयेण महापुरुषाचार्यकृतनिवेदनेन स्वीयत्वाङ्गीकारं करिष्यति। तथा चाङ्गीकारस्य सिद्धत्वान्न लौकिकीं गतिं करिष्यति इति अर्थः। भक्तस्य पुष्टिस्थत्वा‘यापि’ शब्दः ॥१॥

“एवं चेत्” इति। अनास्थायामविचारेपि फलसिद्धौ स्वाच्छन्द्येन बाहिर्मुख्यं भगवदननुसन्धानं भवेत् इति अर्थः। तथा च यत्नानास्थया समाहितो दोषः पुनः प्राप्त इति भावः। निवेदनस्मरणस्य स्वरूपम् आहुः ‘सर्वदे’ति। “त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया” इति प्रकारकस्वाच्छन्द्येपि बाहिर्मुख्यं भगवदननुसन्धानं न भविष्यति इति अर्थः। निवेदनानुसन्धानाभावे तु बाहिर्मुख्यं स्यादेव, अतस्तदावश्यकम् इति भावः। “सेवादि” इति। ‘आदि’पदेन कथा, तदसम्भवेपि इति अर्थः। अनायासेन फलसिद्धौ स्वाच्छन्द्येन प्राप्तस्य बाहिर्मुख्यदोषस्य निवारणार्थं निवेदनानुसन्धानमुक्तम्। फलासिद्धावपि तदनुसन्धानं कार्यमेवे‘त्यपि’शब्दः। चकारपक्षे ‘सर्वथे’तिपदेन आवश्यकत्वं बोधितम्। तुशब्दपक्षे आवश्यकत्वं तेनैव बोधितम् इति। ‘सर्वथा’ पदस्य समासेनाग्रे अन्वयम् आहुः ‘अथवे’ति। ‘आसुरप्रवेश’ इति। “द्वया ह (वै) प्राजापत्या” इति अत्र वागादीनां स्वार्थमुद्गानात् पापवेधः, आसन्यस्य भगवदर्थमुद्गानात्तदभाव इति तृतीयाध्याये ‘वेधाद्यर्थभेदात्’ इति अधिकरणे भाष्ये

१. शेन सर्वांशैः इति पाठः. २.. सर्वात्मनेति पाठः. ३. सर्वदा इति पाठः.

कृतस्वामित्व आत्मीयत्वमेव^१ तेषु मनुत इति तद्धितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते। अथवा। कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायाम् इति ज्ञापनाय सर्वपदं कालादिपरम्। प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यति इति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय निजेच्छेत्युक्तम्। अथवा। निजाः स्वीयत्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रचुरेच्छातः स्वयमेवापेक्षितं करिष्यति इति न प्रार्थनापेक्षेति अर्थः। परन्त्वच्छाया अविकृतत्वमेवापेक्षितम् इति ज्ञापनायाव्ययप्रयोगः ॥२॥

ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ताबाधते, तत्र आहुः सर्वेषाम् इति।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥३॥

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तैः सहैव स्वस्याङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभुसम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापि इति अर्थः। इयं निवेदनेऽङ्गीकारमर्यादेति^२ आहुः स्थितिरिति। कस्यचिद्विशेषतोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टिरिति-

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणी।

विवृतम्, अतो यस्मिन्नेव काले भगवदीयत्वविस्मरणम्, तदैव देहादावासुरधर्मप्रवेशो भवति इति अर्थः। तेन बाहिर्मुख्यं भवेदेवेति भावः। 'आत्मीयत्वमेवे'ति। भगवतस्तदात्मत्वकथनेन तेषामात्मीयत्वम् उक्तम्। स्वामित्वं भगवन्निष्ठो धर्मः सर्वेश्वरपदस्यार्थः। आत्मीयत्वं भक्तनिष्ठो धर्मः सर्वात्मपदेनोक्तः। सर्वपदस्य कालवाचकत्वपक्षे कालनिष्ठो ज्ञेयः॥२॥ 'स्वधर्मे'ति। स्वधर्मो निवेदनम्, तस्य हानिरिति अर्थः। 'स्वात्मना सहे'ति। प्रत्येकं प्रभुसम्बन्धे यावत्तत्सम्बन्धानामनङ्गीकारस्तावत् तत्तत्सम्बन्धयुक्ते स्त्रीपुत्रादौ स्वस्य विनियोगे दोषः स्यात्, अत्र तु सहैवाङ्गीकारात् सेवानवसरे अनिषिद्धप्रकारेण भार्याद्युपयोगेऽपि न स्वधर्महानिरिति अर्थः। 'प्राधान्यात्' इति। प्राधान्याद्धेतोः स्वस्यैव नेति अर्थः। 'का चिन्ते'ति। अभगवदीयसंसर्गे हि स्वधर्महानिः। तेषामप्यङ्गीकृतत्वान्न तथेति अर्थः। तथा च भगवदीयत्वानुसन्धानेन तेषु व्यवहर्तव्यम्, न तु स्वकीयत्वाभिमानेनेति भावः। वित्तादिवद्भार्यादीनामपि समर्पणम्। परमेतावान् विशेषः। भार्यादिदेहे यथैतस्य सम्बन्धः तथा तत्तज्जीवानामपि सम्बन्धोऽस्ति, अत एतेन तत्तन्निष्ठस्वसम्बन्धसमर्पणे कृतेऽपि तत्तज्जीवसत्तासमर्पणार्थं भिन्नभिन्नतया तत्तत्कृतसमर्पणमपेक्षितम्। एतत्कृतसमर्पणे नैतन्निरूपिततत्सम्बन्धः समर्पितो भवति, स्वस्वसहजादिदोषपञ्चकनिवृत्तिस्तु स्वस्वकृतसमर्पणेन भवति। वित्तादिषु त्वन्यसत्ताभावादेतत्कृतसमर्पणेनैव निर्दुष्टत्वसिद्धिरिति। 'इयम्' इति। सर्वनिष्ठसम्बन्धैः सह स्वस्याङ्गीकार इति अर्थः। 'विशेषत' इति। निवेदकस्यैवाङ्गीकारस्तन्निष्ठकिञ्चिनिरूपितसम्बन्धस्य नेति

१. आत्मत्वम् इति पाठः. २. निवेदिनो अङ्गीकारेति पाठः.

भावः। अथवा। पुत्रादीनामन्यविनियोगदर्शनेपि स्वस्य का चिन्ता, तेषामप्यङ्गीकारेणैव कृतार्थतासम्भवात् इति अर्थः। किञ्च। स्वस्येतिपदमावृत्तमपिशब्देन सम्बध्यते ॥३॥

यथा पुत्रादीनाम्, तथा स्वस्यापि सः अन्यविनियोगश्चेत्, तदापि चिन्ता न कार्येति आहुः अज्ञानात् इति।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥४॥

हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्मभिश्चिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्णसात्कृतप्राणैश्चिन्ता न कार्येति किं वाच्यम् इति अर्थः। केवलं प्रभवधीनीकृतप्राणानां चिन्ताविषयाभावादेव न सेति भावः। अत एव केतिशब्द उक्तः। पदसम्बन्धस्तु अज्ञानादथवा ज्ञानाद्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा नेतिशेषः। कृष्णसात्कृतप्राणैर्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा केत्युक्तम् ॥४॥

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणी।

चेत्। “सा पुष्टिः” मर्यादातिक्रमो भगवतो नियन्तुमशक्यत्वात् इति अर्थः। तदा तादृशे स्वदेहविनियोगो न कार्यः। अत एव “प्रतिकूले गृहं त्यजेत्” इति वाक्यम्। अस्मिन् पक्षे अन्यत्र स्त्रीपुत्रादौ विनियोगे स्वस्य देहस्येति अर्थः। ‘अन्यविनियोगे’ति। अन्यत्र लौकिके स्वस्त्रीपुत्रादिकार्ये विनियोगदर्शनेपि तेषां निवेदनहानिजनितचिन्ता स्वस्य केति अर्थः। ‘तेषामपि’ इति। स्वाङ्गीकारेणैव क्रमेण तेषामपि कृतार्थता सम्भवति। अधुना अतथाभावेऽप्येकाङ्गेन भगवत्सम्बन्धात् तदनुभावेनैवास्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा तथा बुद्ध्या स्वस्वकृतसमर्पणेन स्वस्वसहजादिदोषनिवृत्त्या कृतार्थता सम्भवति इति अर्थः। अङ्गीकृतस्य सर्वांशे भगवानेव चिन्तां करोति इति ‘स्वस्ये’त्युक्तम्। स्वस्य त्वधुनैव सहजादिदोषनिवृत्त्या कृतार्थता सिद्धा, क्रमेण तेषामपि सम्भवति ‘इत्यपि’ शब्दः॥३॥

एतमेव पक्षमाश्रित्याग्रिमश्लोकाभासम् आहुः ‘किञ्चे’ति। प्रथमपक्षे स्वस्य स्वकीयस्य स्त्रीपुत्रादेरपि इति अग्रिमश्लोकव्याख्याने इति अर्थः। ‘केवले’ति। भगवदधीनजीवनानां सर्वांशे भगवदीयत्वेन विषयाः सर्वे भगवदीया एवेति भोग्यविषयेषु स्वीयत्वेनाभिमानाभावात् सा पक्षद्वयभेदेन स्वान्यविनियोगजनिता पुत्राद्यन्यविनियोगजनिता वा चिन्ता नास्त्येव, किन्तु हीनमध्यमाधिकारिणामपि तदभावार्थं बोध्यत इति भावः। चिन्ताभावे हेतुः पूर्वोक्त एव सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो ज्ञेयः। आद्यव्याख्याने पूर्वं स्वान्यविनियोगचिन्ता, द्वितीये पुत्राद्यन्यविनियोगचिन्तोक्ता। द्वितीयव्याख्याने इदं विपरीतम् इति विभेदः। ‘तेषां सा ने’ति। स्वपदस्य स्वकीयवाचकत्वपक्षे सा स्त्रीपुत्रादिविषयिणी चिन्ता नेति अर्थः। निवेदनपदार्थो न नश्यति, विलम्बस्तु भवत्येवेति ज्ञेयम्॥४॥

ननु सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव सम्पद्येते, तथा च स्वयमात्मनिवेदने कृतेपि प्रभुरङ्गीकृतवान्नवेति चिन्ता भवत्येव, इति अत्र आहुः तथेति।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।

विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥५॥

पुरुषोत्तमोङ्गीकृतवान्नवेति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या उक्तनिवेदनवत्^{१०} इति अर्थः। पुरुषोत्तमेन निरोधलीलायां स्वतोन्वयभजनं क्रियमाणा भक्तास्तन्निवार्य स्वयमात्मसात्कृता इति तादृशे स्वयं सर्वात्मना निवेदने कृते सा शङ्का नोचितेति ज्ञापनाय पुरुषोत्तमपदम्। तत्रापि स्वरूपानन्ददानेनानिशं पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्रोपयोगासम्भवेनैव न शङ्कोदय इति ज्ञापनाय श्रीपदम्। तथा च तद्युक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्येति भावः। कदाचिल्लोकभयाद्युपस्थितौ तन्निवारणाय जीवस्वभाववशादन्यविनियोगेपि तथेति^{११} आहुः विनियोगेपि इति। प्रमादात्तथासम्भवेपि प्रभुर्न त्यक्ष्यति। यतस्तत्स्वभाववशात्तथा भूतमप्युद्धर्तुं तत्साधनानपेक्षः ॥५॥

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणी।

“इति निवेदनविषयिणि” इति। इति असम्पत्तिप्रकारेण निवेदनविषयिणि इति अर्थः। पूर्वोक्तापि निवेदनविषयिण्येव, परं हानिप्रकारेणोक्तेति भावः। पूर्वोक्तमेव समाधानमत्रापि ज्ञेयम् इति आहुः ‘उक्तनिवेदकवत्’ इति। मूलस्थ ‘तथे’तिपदस्यार्थोयम्। सप्तम्यर्थे वतिः। यथा निवेदके, तथा पुरुषोत्तमे इति मूलानुसन्धानेनार्थः। तथा च यथा पूर्वश्लोकोक्तरीत्या निवेदककृतान्यविनियोगहेतुकनिवेदनहानिचिन्ता त्याज्या, तथा भगवत्कृताङ्गीकाराभावहेतुकनिवेदनासम्पत्तिचिन्तापि त्याज्येति अर्थः। “पुरुषोत्तमेने”ति। एतेन हीनमध्यमाधिकारिणां निवेदनविषयकचिन्ताभाव उक्तः। उत्तमाधिकारिणाम् आहुः ‘तत्रापि’ इति। निवेदितात्मस्वपि मध्ये कृष्णसात्कृतप्राणानामुत्तमाधिकारिणां तु परमसौन्दर्यस्य स्वगतत्वाय तादृशाकारेण प्रादुर्भूते भक्तसहिते भगवति समर्पणस्य सिद्धत्वात् तदानन्देन पोष्यमाणानां शङ्काया उदयो यस्मात् स शङ्काहेतुर्नास्ति इति अर्थः। ‘तदितरत्रे’ति। अम्बिकावनगमनेपि तं दोषं निवार्य स्वस्मिन्नुपयुक्ताः सर्वे कृताः, रासस्थानां तु गमनमेव नास्ति। इदमङ्गीकारस्वरूपं ज्ञेयम्। तथाप्युत्तमाधिकारिणां तु भगवदीयेभ्य इतरत्रोपयोग एव न सम्भवति। तस्मिन् सति हि तादृशशङ्का भवति इति भावः। ‘तद्युक्ते’ इति। ताभिः श्रीपदसूचितलीलाभिश्च युक्ते निवेदने सति भ्रमात् प्राप्ता शङ्का त्याज्येति अर्थः। तथा च पुरुषोत्तमे यन्निवेदनं तद्विषयिणी पुरुषोत्तमकृताङ्गीकाराभावहेतुकनिवेदना सम्पत्ति चिन्ता, तथा निवेदककृतान्यविनियोगहेतुकनिवेदनहानिचिन्तावत् त्याज्येति मूलार्थः। निवेदनविषयिणी चिन्ता निवेदके इव पुरुषोत्तमेपि त्याज्येत्यन्वयः। ‘अन्यविनियोगेपि’ इति। राज्याद्याश्रयणेपि इति अर्थः। ज्ञात्वा त्वास्थया तदपि न कर्तव्यम् इति आशयेनापिशब्दार्थम् आहुः ‘प्रमादात्’ इति ॥५॥

१. उक्तनिवेदकवदिति पाठः.

अङ्गीकारे लक्षणान्तरमप्याहुः लोक इति।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गास्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥६॥

कदाचित् प्रवाहवशाल्लौकिके वाणिज्यादौ, वैदिके आश्रमधर्मादौ वा स्थितौ तत्र विघ्न एव भवति, न तु तत्फलम् इति अर्थः। तत्र हेतुः पुष्टि इति। तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वकर्ता यत इति भावः। पुष्टिमार्गाङ्गीकारे मर्यादां न सहत इति ज्ञेयम्। एवं सति किं कार्यम् इति आकाङ्क्षायाम् आहुः, साक्षिवत् तत्कृतं पश्यत ॥६॥

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।

अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥७॥

सेवाकृतिरिति। गुर्वाज्ञाया अबाधनं यथा भवति, तथा सेवाकृतिः पूर्वमपेक्षिता। एवं वर्तमानानां कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेत्, गुर्वाज्ञा विरुद्धा भवेत्, तदा तथा कार्यम् इति आशयेन आहुः। बाधनं वा हरीच्छया। विकल्पेनाबाधनम्^१ इति अर्थः। एवं सति गुर्वा-

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणी।

‘लक्षणान्तरमपि’ इति। पूर्वश्लोके भगवतः पुरुषोत्तमत्वमेतद्विषयकाङ्गीकारे लक्षणं सन्देहाभावसाधकमुक्तम्। तत्र पुरुषोत्तमोपि नहि सर्वानङ्गीकृतवान्, किन्तु कांश्चन तादृक्प्रसादविषयान्, तत्र अहं कीदृश इति स्फुटं ज्ञातुं न शक्यत इति अधुना लोकवेदस्वास्थ्यदूरीकर्तृत्वरूपं लक्षणान्तरमप्युच्यते इति अर्थः। ‘स्वास्थ्यं’ पदस्यार्थम् आहुः ‘आस्थिता’ विति। आस्थितिः कायावाङ्मनसां तदीयत्वम् इति लक्षणमेकादशस्कन्ध

सुबोधिण्याम् उक्तम्। तथा च मूले ‘स्वास्थ्यम्’ इति अत्र स्वपदेन लोकवेदौ तन्निष्ठतां न करिष्यति, सिद्धां च दूरीकरिष्यति, विघ्नसम्पादनेनेति शेषः। तथा चैवं विघ्नेनाङ्गीकारो निश्चेय इति भावः। आस्थितौ विघ्नकथनेन इदं मम कार्यसाधकम् इति ज्ञात्वा तद्विश्वासेन वाणिज्यादिकमाश्रमधर्मादिकं च न कर्तव्यम्, किन्त्वेतद्वद्वारा भगवान् करिष्यति इति ज्ञात्वा तदुभयं कर्तव्यम् इति भावः। स्वयमेव समर्थत्वात् स्वकीयानां साधननिष्ठतां निवारयति इति आहुः ‘तद्विनापि’ इति। ननु तथापि सिद्धस्य साधनस्य विघाते को हेतुरिति आशङ्क्य तृतीयचरणस्य तात्पर्यान्तरमपि आहुः ‘पुष्टिमार्गाङ्गीकारे’ इति। “किं कार्यम्” इति। अनास्थया कृतो यत्नः कथं फलं जनयेत् इति अर्थः। ‘साक्षिवत्’ इति। यथा साक्षी कर्तुर्हानिवृद्धयोर्हर्षशोकरहितः सन् कर्तृसम्पादितं फलं पश्यति, तथा हर्षशोकरहिताः सन्तः साधनानास्थया भगवत्सम्पादितं फलं विघ्नं वा पश्यतेति अर्थः। तथा च भगवानेव तस्य यत्नस्य फलजनकतां सम्पादयिष्यति इति भावः॥६॥

‘विकल्पेने’ति। साक्षात्सेवायां सिद्धायां साधनरूपसेवायामबाधनम् इति व्यव-

१. बाधनम् इति पाठः. २. “कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा” इति.

ज्ञाया अबाधने बाधने वा सेवैव मुख्या यतो अतस्तथैव स्थेयम् इति आहुः अत इति। एवं सति पर्यवसितं सुखमेवेति आशयेन सुखम् इति उक्तम् ॥७॥

कदाचित् पुत्रादिवियोगशङ्काजनितदुःखेन चिन्तासम्भवे गतिम् आहुः चित्तोद्वेगम् इति।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।

तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥८॥

नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति। तथाहि। श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तागतौ हि पश्चान्निवेदनवार्ता। तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापम् इति दूरतरा निवेदनदिगपि। अतस्तत्कृतचिन्तान्यवियोगचिन्तादिसमाहितिर्निरर्थेति विचार्य साधनफले^१ एकीकृत्य सर्वसमाधानम् आहुः तस्मात् इति ॥८॥

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।

वदद्भिरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥९॥

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणी।

स्थितविकल्पेनेति अर्थः। ‘तथैव स्थेयम्’ इति। आवश्यककार्यार्थं कदाचित् कार्यस्य तत्परत्वेपि चित्तं सेवापरमेव विधातव्यम्, न तु तत्कार्यपरम् इति यत्नानुचिन्तनं कर्तव्यम् इति ग्रन्थारम्भे उक्तोर्थ उपसंहृतः॥७॥

‘कदाचित्’ इति। कदाचित् पुत्रादिर्वियुक्तो भवेत् इति सम्भावनया जनितं यद्दुःखं चित्तस्य पुत्रादिपरता इति यावत्, तेन हेतुना निवेदनविषयिणी चिन्ता सम्भवति। तथा च लोकवन्ममापि चित्तं पुत्रादिपरं जायत एवातो निवेदनं सम्पन्नं न वेति चिन्तासम्भवे गतिं तद्भावप्रकारमाहुरित्यर्थः। चित्तस्योद्वेगं^२ भगवदीयत्वाननुसन्धानेन पुत्रादिपरतां विधायापि यद्यत् करिष्यति सा सा तथा तत्तत्प्रकारिकैव तस्य लीला निवेदिनां सर्वं कार्यं स्वयमेव करोति इति भावः इति मत्वा निवेदनविषयिणीं चिन्तां त्यजेत् इति मूलार्थः। एतच्चिन्तास्थापने “संशयात्मा विनश्यति” इति वाक्यात् सर्वमेव नश्यति इति ‘द्रुतम्’ इति उक्तम्। निवेदनं सम्पन्नमेव, परं विलम्बेन भगवतः स्वप्रापणं चिकीर्षितम् इति ज्ञेयम् इति अर्थः॥८॥

‘तत्कृते’ति। निवेदनकृता यत्नकरणाकरणविषयिणी चिन्तेति अर्थः। “साधन फले” इति। ‘साधनं’ श्रवणाद्यष्टकम्, फलमात्मनिवेदनम्, शरणागतावेकदैवैते सम्पद्येते इति अर्थः।

१. भगवद्भक्तद्वारा भगवच्छरणगमनं तदनुसन्धानं च साधनम्. फलं भगवदङ्गीकारः. ततो भगवद्भक्तद्वारा भगवच्छरणगतौ भगवता निवेदनस्याङ्गीकाराद्भक्तिषु क्रमनियमाभावान्निवेदनसिद्धेस्तत्र चिन्तासाधनानामयुक्तत्वात् इति भावः.

२. उत्कृष्टं वेगम् इति

यस्मादुक्तरीत्या स्वतः सर्वमशक्यमतः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यति इति हृदयम्। भक्तिमार्गीयान् सर्वानंशान् विचार्य तत्र प्रतिबन्धं स्वाशक्तिं च स चेत् पश्यति, तदा सर्वात्मना तथा भवति। नित्यम् इति नैरन्तर्यमुच्यते। अन्यथा कालेनासुरधर्मप्रवेशः स्यात्। अन्तःकरणे तथाभावे अतथाभावे वा तथावदनम् आवश्यकम् इति ज्ञापयितुं सततमेवं वदद्भिरिति उक्तम्। एवं सति लोकशिक्षाप्यानुषङ्गिकी सिध्यति। एवमुक्तप्रकारेण सेवापरतया स्थेयम् इति अर्थो वा। नन्विदमपि न स्वशक्यम् इति आशङ्क्य “यमेवैष वृणुत” इति श्रुतेर्ममतिरित्येव, एवंप्रकारिकैवेत्यर्थः।

भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य दाढ्यार्थमिदमुच्यते ।

अन्धस्य सूर्य इव तद्विमुखस्यात्र नार्थिता ॥१॥

भक्तिमार्गसुधासिन्धोर्विचारमथनैः स्वयम् ।

स्फुटीकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्यपण्डितैः ॥२॥

मयोज्ज्वलीकृतानीत्थं हृदि धृत्वा ब्रजाधिपम् ।

भजन्तु भक्ता येनासौ न विमुञ्चति कर्हिचित् ॥३॥

इति श्रीश्रीविट्ठलेशदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः

श्रीविट्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणी।

‘सर्वमशक्यम्’ इति। श्रवणादिनवकमप्यशक्यम् इति अर्थः। ‘प्रभुरेव’ति, समर्थत्वाच्छरणं गतानामेकदैव सर्वं सम्पादयिष्यति इति अर्थः। ‘प्रतिबन्धम्’ इति। साधारणप्रतिबन्धोद्वेगं लौकिकभोगकृतं प्रतिबन्धम् इति अर्थः। “भगवत्कृतप्रतिबन्धे त्वासुरोयं जीव” इति निर्धार इति उक्तम्। ‘अन्तःकरणे’ इति। एतेनैकांशेनापि भगवत्सम्बन्धे आसुरप्रवेशो न भवति इति सूचितम्। प्रथमपक्षे ‘एवम्’ इति अनेन पूर्वार्थानुवादः। द्वितीयपक्षे पूर्वोक्तस्य सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयताम् इति अस्यानुवादः। ‘ननु’ इति। अर्धाङ्गीकारेण समाधानम् आहुः ‘यमेवे’ति। भगवतो वरणलभ्यत्वात् मम मत्सम्बन्धेन मदीयानां च वृतत्वान्मन्मतिसिद्धप्रकारं मदीयानां भगवानेव शक्यं करिष्यति, अन्येषां वरणरहितानां त्वशक्यमेवेति भावः॥१॥

तर्हि बोधनं किमर्थम् इति आशङ्क्य स्वयम् आहुः ‘भक्तिमार्गे’ इति। एतेन वृतस्य दाढ्यं भवति इति अर्थः। अवृतस्य तु न भविष्यति इति आहुः ‘अन्धस्ये’ति॥१॥

“भक्तिमार्गसुधासिन्धो’रिति। भक्तिमार्गप्रवर्तकः ‘सुधासिन्धु’ भगवतशास्त्रं तस्मादपादानात् विचाररूपैर्मन्थन’दण्डैः करणैः। श्रीमदाचार्यपण्डितैः कर्तृभिः। स्वयं समुद्धृतानि, न तु गुर्वादिशिक्षया तादृशानि॥२॥

मया चेत्थमुज्ज्वलीकृतानि रत्नानि स्वहृदि धृत्वैतदुक्तप्रकारेण ब्रजाधिपं भक्ता भजन्तु येनाचार्योद्धृतप्रकारकभजनेनासौ न विमुञ्चति इति अर्थः॥३॥

इति श्रीविट्ठलरायात्मजश्रीवल्लभविरचिता नवरत्नटिप्पणी समाप्ता।

॥श्रीकृष्णाय नमः॥

नवरत्नम्

श्रीमुरलीधरकृतविवृतिसमेतम्।

नवरत्नसुवर्णनिर्मिता परमानन्दरसस्य बोधिका।
हृदये वसतात् सदोर्वशी परमोच्चग्रहरश्मिरूपिणी॥१॥
रसमयसुवर्णधारावर्षणशीला दशविधप्रगुणाः।
श्रीमुरलीधरलीला मुरलीधरमानसे सन्तु॥२॥
वसु सुवर्णमयं परितः परं रसमयं च विधाय सुमण्डलम्।
विविधनर्तनदर्शनतत्परा रसनिधिर्मयि सैव विराजताम्॥३॥
ललिते वृन्दाविपिने वैकुण्ठादप्यतीव रमणीये।
क्रीडसि नवरसरुचिरे श्रीस्वामिन् मम हृदम्बुजे क्रीड॥४॥
श्रीशुकदेवरहस्यं प्रकाशितं यैरतीव रमणीयम्।
श्रीवल्लभाभिधानैर्नवधा तेभ्यो नमोस्तु मे सततम्॥५॥
श्रीमद्विट्ठलप्रभुषु श्रीनवरत्नप्रकाशनिपुणेषु।
सप्तविभक्तिरहस्यप्रकाशकेष्वस्तु मे प्रणतिः॥६॥

अन्तःखलधर्मप्रधानकलिदूषितसमयतीर्थकर्तृमन्त्रद्रव्यश्रद्धादीनामसाधकत्वाद्
द्विष्णुदुरवगाहपाषण्डादिनिपुणजनतासङ्गसञ्जाताज्ञानान्धकारसम्भृतहृदय
दरीनिविष्टविषयविषरससम्भृतानन्तसंसारसागरे निमग्नतया चेतसः
स्थिरत्वाभावाद्विध्युक्तरीत्या श्रवणादिसाधनाभावान्नवमी रत्नैश्चिन्ताभावपूर्वकं
तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकं च निरन्तरमष्टाक्षरवदनकृतिसाधनरूपसाध्यफलामतिसुगमां
च श्रीकृष्णस्य श्रीमद्वदनरूपाः श्रीवल्लभाचार्या दैविजीवानुद्दिधर्षन्तः प्रथमं
मध्यनायकत्वेनालौकिकश्रेष्ठभानोर्विशेषरूपया निगूढद्विमात्रया आर्ययोषदिशन्ति
“चिन्ता कापि न कार्ये”त्यादिना।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति।

भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम्॥१॥

वसन्तादिपूर्णरसमयषडैश्वर्यादिमूर्तिमद्भिः सेवितस्य गोरसदानादानप्रवीणस्य
द्वादशसुवर्णरत्नराशिकल्पतरुस्कन्धारूढस्य श्रुतिगीतद्वादशमा ससंवत्सरादिरसमय
समयप्रादुर्भावकस्य गायक परित्राणनिपुणैकव्यक्तिपदमात्रा विद्योतित
सकलसुषमास्यदकीर्तिप्राकट्यकारकस्य सप्ताक्षरव्यञ्जितोत्तमवासरस्य
त्रिभुवनललितमाधुर्यादिसुगन्धलतामधुपानप्रवीणषट्पदस्य
स्वीयजनानामाधिदैविकसकलज्योतिषामानुकूल्येनचिन्तानिवर्तकस्य
द्वितीयचरणमात्राविद्योतितत्रयोदशमाससंवत्सरस्य लौकिकसकलशुभकर्मानर्हस्याप्यस्य

भगवद्भक्तावाधिक्यद्योतकस्य तथाधिकमात्रायास्त्रयोदशीत्वेनानङ्गस्यापि साङ्गताप्तिबोधकस्य उत्तरदलाद्वैलक्षण्यद्योतनायाधिकैकमात्रस्य वा। सा मात्रा तु गायकपरित्राणसमर्थायाः, प्रथमचरणे गूढा न्यासे द्वितीयचरणे च प्रकटीकृता। अत्र च याकारे आकृतिरूपं निगूढवासुदेवपदमुत्तरान्वयि गूढमासमन्तात् सर्वप्रकारेण निवेदित आत्मा यैरित्यर्थात्। अत एव षट्पदत्वमुक्तम्। तस्य चरणान्तत्वेन गुप्तवामनत्वे सत्येकादशेति प्रथमचरणेन साम्यम्। अनेन मलिम्लुचातिरिक्तैकादशमासानां सङ्ग्रहोपि द्योतितः। द्वितीयचरणं तु त्रयोदशमात्रं सममेव। त्रिपदायास्तृतीयान्त्यस्य व्यञ्जनस्य न्यासे अगणनाद्याकारस्य वैकल्पिकवामनत्वे द्वादशमात्राः। अकारोप्यत्राकारात्पूर्वं प्रश्लिष्टो वेद्यः सकलवाग्रूपः। अस्या गायत्याश्च तुरीयस्य तुरीयनिगमवेदैकत्वाभावात् त्रिचरणैः साम्यम्। अस्यास्त्रिचरणायाश्चालौकिकश्रेष्ठभानुप्रकाशत्वम्। एकस्मिन्नक्षरे मध्यस्था दिव्यव्यक्तिरव्यक्ता पूर्वोत्तरान्वयिनी। पूर्वान्वयित्वे यशोदोत्सङ्गलालिता व्यक्तिरुत्तरान्वयित्वे कीर्त्यङ्कलालिता व्यक्तिर्व्यञ्जिता वेद्या। अङ्को ह्यानन्दात्मा विद्यारूपो भगवत्प्राकट्यस्थानम्। व्यक्तिद्वयेप्यङ्कस्य समत्वात्। सकलवाग्रूपाक्षर एकस्मिन्नेकाङ्कः। द्वितीयायां व्यक्तौ द्वितीयत्वेपि तज्जातित्वेनाद्वयत्वादेकाङ्कः। एवं चैकाङ्कस्य द्वित्वे ह्येकादशी कृष्णवल्लभा प्रकटा भवति। तथा च दलद्वयस्याद्यन्तरहितत्वेन वर्तमानता उत्तरोत्तरं वर्तमानस्यैव रसावहत्वात्। योगबलेन भूतभविष्यत्पदार्थयोर्वर्तमानत्वेपि सर्वेषां तथात्वाभावात्। अत एव यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यमिवैचोश्चोत्तरभूयस्त्वमिवान्तिमवर्णे अर्थपर्यवसानमनुभवसिद्धं रसावहम्। अतो वाक्यपदीये “पदेन वर्णा विद्यन्त” इत्यादि। किञ्च, दीर्घे मात्राद्वयम्, प्लवने त्रयम् इति हरिः पञ्चधा। इह द्वितीयचरणे मात्रात्रयं गुप्तमन्तद् द्वितीयव्यक्त्या व्यक्तोक्तं ‘कदापीति’ पदेनेति। न हि कदापीति पदमेकम्, किन्तु पदत्रयम्। एवञ्च कदाप्येतस्मात् पदद्वयात् यदितिपदमाचार्यैः शेषत्वेन पूर्वोक्तसकलप्रकारबोधकं हृद्येव स्थापितम्। गायत्रीमात्रार्थसाम्याय तत्स्वात्मद्वितीयव्यक्त्या व्यक्तीकृतं वेद्यम् इति भावः। द्वितीयचरणान्त ‘इति’पदे सति पञ्चदशमात्राभिस्तिथय इति कृष्णजन्मपक्षः। पदैर्भूतभविष्यद्वर्तमानाः एतत्सकलरहस्यार्थबोधकस्य “क्षयः कार्तिकादित्रये नान्यतः स्यात् तदा वर्षमध्ये अधिमासद्वयं चे”ति संवत्सरस्यास्य मासास्त्रयोदशेति सोपि सङ्गृहीतः। ‘इति’ पदप्राकट्ये गूढाः षोडशकला द्वादशकले प्रविशन्ति। तृतीये मात्राभिः सूर्यस्य कलानामक्षरैर्मासानां पदैः प्रातरादीनां त्रयाणां द्योतकस्य तुर्ये मात्राभिः शुक्लपक्षद्योतकस्य रुद्रसङ्ख्याक्षरैर्मलिम्लुचातिरिक्तमासानां च पदैर्हरेः पञ्चात्मकत्वं स्पष्टयतः, प्रातःसङ्गममध्याह्नापराह्णसायाह्नानां च द्योतकस्य दिनमणेरुत्तणपदमात्रस्य भावत्प्रयोगात् (?) स्वार्थिके कनि सत्याद्युदात्तस्य माणिक्यस्य रसेन परिपूर्णस्य सम्बन्ध्यानन्दात्मकरत्नस्य प्रतिपादकतया आर्याविशेषरूपाया मध्यनायकरत्नबोधिकाया अपि तद्रूपता वेद्या, वेद्यवेदकयोः सम्पृक्तकत्वात्। एवमग्रिमेष्वपि वेद्यम्। श्रीकृष्णस्य हरेः पञ्चविदत्वं श्रीप्रभुचरणैर्निबन्धे उक्तम् “अग्निहोत्रं तथा दर्शः पूर्णमासः पशुस्तथा। चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात् पञ्चविधो हरिः। तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि सुगादि यत्। प्राकृतं रूपमेतद्धि नित्यं काम्यं

तु वैकृतम्” इति। वेदार्थस्य पञ्चधात्मकतां सूचयितुं हरिनामाक्षराणि चत्वारि भक्तजनदुःखहरणदक्षाणि समूहरूपेण पृथग्वर्णाभावरूपं च पञ्चमम् इति पञ्चधा हरिः। तथा कृष्णनाम्नि वर्णाः पञ्च। पञ्चवर्णो अगिति। स चर्वेदादिरिति पञ्च। अस्यासनत्वं पशूनामगम्यत्वाय सूचितम्। भगवतः भक्तानां तु विद्यात्मकमुखारविन्तपङ्क्तिरूपं प्राप्य कृतार्थता भवति। रमन्ते भक्तानां मनांसि यत्र तद्रत्नम्। प्रत्येकं रत्नेषु नवत्वेऽपि क्रमो विवक्षितः। श्रेष्ठभानोः समयपरिच्छेदकज्योतिषां प्राधान्यात् तद्रत्नस्य मध्यनायकत्वम्, आर्याविशेषरूपच्छन्दसा द्योत्यद्योतकयोः श्रेष्ठत्वसूचनात्।

अर्थस्येयमतिश्रेष्ठा श्रेष्ठभानो रसात्मिका।

विशेषरत्नतापन्ना वसुरत्नप्रकाशिका॥१॥

मध्यस्था प्रथमं प्रोक्ता श्रीमद्वल्लभदीक्षितैः।

सोर्वशी राजतां नित्या मुरलीधरमानसे॥२॥

अष्टरत्नप्रधाननवमस्योर्वशीत्वं प्रधानतयोक्तं माणिक्यस्य।

रसमध्यसुवर्णनायिका वरमाणिक्यतया निरूपिता।

हृदये मुरलीधरस्य सा लसतान्नित्यमनन्तवैभवा॥३॥

त्रिचरणसमगायत्री तुरीयचरणेन संयुता तत्त्वम्।

वेदानां प्रसवित्री मुरलीधरमानसे प्रकाशयताम्॥४॥॥१॥

दिनमणेर्दिनप्रधानस्य रत्नमभिधाय क्षणदाप्रधानस्य कृष्णसाराङ्कस्य स्वात्यमृतबिन्दूद्भवं मुक्ताफलाभिधं द्वितीयं रत्नम् आहुः “निवेदनं च स्मर्तव्यम्” इत्यादिना।

निवेदनं च स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति॥२॥

स्मरणं चन्द्रेच्छे च मानसे। एवं च “अहं तवास्मि” इति निरन्तरं स्मर्तव्यम्। तच्च भगवत्प्राप्तौ मुख्यं निमित्तम्। तेनाविकृतषोडशदल आधिदैविको भगवन्मनश्चन्द्र आधिभौतिके अविकृते सत् विद्यात्मतां याते अक्षरात्मनि व्यापके पञ्चदशकलत्वं प्राप्ते सेवकमनश्चन्द्रे निविशते तदा षोडशकलो भवति। अत एव षोडशसङ्ख्याकाश्चरणाङ्काः। अतः

एव रसिकशिरोमणिभिः श्रीहरिरायैः “यद्भूयानाच्चेतोपि च षोडशकलमञ्जसा भवति” इति उक्तम्। इहापिशब्दाच्चित्तबुद्ध्यहङ्काराणां तत्सङ्ख्याकानां चतुः षष्ट्यक्षणात्मिकाः कलाः सम्पद्यते। ‘सर्वथा तादृशै’। कायवाङ्मनोभिरनन्यतया ये भवन्तं प्रपन्नाः ‘तादृशै’रिति सहार्थे तृतीया। यद्यपि स्मरणे सङ्गापेक्षा नास्ति, तथापि तादृग्भिन्नैः सह सङ्गनिवृत्यर्थं तथोक्तिः। सर्वसेवकानाम् ईश्वरत्वेन निरोधकत्वात् तेष्वेव दैवेषु आत्मत्वमात्मीयत्वं च मनुते। अतो “निजस्य नैजानां चाविकृतेच्छात” इति उक्तं प्रकाशे। भगवदिच्छा परीक्षाद्यर्था तात्त्विकी नेत्यविकृतोक्ता। स्वतन्त्रप्रवाहमर्यादयो रत्ने शोकोत्पादकत्वात् शोकाश्रयत्वात् वा शुक्तित्वम्। क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकनिवेशस्योक्तत्वात् शोकजनकत्वम्। ‘करिष्यति’ इति सामान्योक्त्या केषुचिदविलम्बः, केषुचिन्मध्यविलम्बः, केषुचिदतिविलम्ब इति द्योत्यते। वर्तमानसामीप्ये भविष्यत्प्रयोगात् प्रथमः पक्षः, इतरौ तु सामान्यप्रयोगाद्वेद्यौ।

उपरितना मर्यादा शुक्तिरधस्तात् प्रवाहरूपा च।

उभयोः सम्पुटगर्भे स्वातिरसालं विरत्नरत्नेव॥१॥

उपरि महामर्यादाधस्तनशुक्त्या तु सम्पुटं याता।

पुष्टिर्मुक्ता मध्येऽसंसृष्टा निर्गता ततः शुद्धा॥२॥

पुनरनयोर्न प्रविशति भगवद्भूषासु संसक्ता।

इत्थं मुक्तारत्नं द्वितीयमथ द्वयं वेद्यम्॥३॥

प्रवाहवेदमर्यादाशुक्तिसम्पुटनिर्गताः।

कलानिधे रत्नरूपा मुक्ताः स्वातिरसात्मिकाः॥४॥

भवन्तु भावे सरसे तासां मम रसात्मनः।

सदा येन भवेद्भावा भूषणे भूषणे विभोः॥५॥

प्रशस्तपुष्पवद्रत्ने सर्वरूपरसान्विते।

श्रीकृष्णहृदये भाते भासेतां हृदये मम॥६॥॥२॥

रसवर्षणभावद्वादशात्मककृष्णसाराङ्काह्लादकरसरश्म्युदयमात्रेण प्रफुल्लतां प्राप्तवतोः, अत एव प्रशस्तयोरत्युत्कृष्टरसार्णवस्थरत्न

रूपयोः कमलयोः पुष्पयोः सदा विद्यमानसाम्ययोगोविप्रपतिपालकवंश

प्रवर्तकयोरलौकिकयोः सकलभुवनाप्यायकत्वेन पुष्टिप्रदयोः सूर्याचन्द्रमसोः सदानन्दरूपे रत्ने अभिधाय तृतीयां सेवकव्यक्तिं विना सेव्यलीलानुदयात् पूर्वोत्तरान्वयिनीं सदानन्दमध्यस्थां चिदानन्दाक्षरदैवजीवसम्बन्धिदेहरूपविद्रुमाख्यां मध्यपुरुषबोध्यामदिगन्तां रत्नव्यक्तिम् आहुः ‘सर्वेषाम्’ इति।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकम् इति स्थितिः।

अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत्।

१.अन्त इति पाठः. २.सदा विद्यमानरसार्णवस्थरत्नरूपयोरिति पाठः.

वसुन्धराप्रधानानां प्राकृतानां स्वस्वीयदेहानां परब्रह्मसम्बन्धादलौकिकतां यातानामक्षरस्वरूपत्वेन चिद्रूपसात्विकानां विशेषेण मङ्गलद्रुमरूपता भवति। सा तु श्रीकृष्णाभरणत्वेन। किञ्च, द्रवतेर्गत्यर्थकत्वेनान्यत्र विनियोगसम्भव उक्तः। न हि स वस्तुतो भवति, यतो अलौकिकहस्तिपके न प्रभुचरणारविन्देन स्वसेवकमनोमत्तमातङ्गस्य स्वस्मिन्नेव स्थापनाय नित्याङ्कुशधारणं कृतम्। अत उक्तं ललिते “एतत्पदपङ्कजमधुमत्तस्यायं निसर्ग एवाभूत्। नेतरभावं भजते यदङ्कुशो नित्यमेवास्ति” इति। प्रभोरिच्छयाः सर्वकार्यकरणसमर्थाया यः सम्बन्धः स परब्रह्मणः समत्वात् सर्वत्र समः। ईदृग्देहानां मङ्गलमन्दिरवेदत्रयात्मकाक्षराधारत्वेन मङ्गलरत्नत्वम्, स्वयं विराजमानत्वात्।

भौमानां विद्रुमत्वं भवति निजपरस्वीयदेहादिकानां
कृष्णेऽद्धा स्वर्पितानां रसमयपरमालौकिकानां स्वभक्तैः।
स्वीयाचार्यस्य मार्गे परमगुणगणालङ्कृता भूषणार्हाः
सेवायुक्ता यतस्ते रसमयवपुषो जङ्गमाः कल्पवल्ल्यः॥१॥
मच्चित्ते ता भवन्तु प्रणयरसभरा उर्वशी रत्नमध्याद्
बाह्यायां वीथिकायां हृदयपरिसरे रत्नरूपाः सुवर्णे।
इत्थं रत्नं तृतीयं नवसु निगदितं पूर्णकामायमानं
तस्मै दिव्याय मे स्यान्नम इह परमानन्दलाभाय नित्यम्॥२॥॥३॥

ननु मध्यहीनाधिकारिभिः स्वयं ज्ञात्वा स्वदेहस्यार्पितत्वेपि पुत्रादीनां ज्ञानाभावात् तद्देहानामज्ञानावृतचित्तत्वेन लौकिकत्वादन्यविनियोग एव भवति इति भवति चिन्तेति बुधस्य सेवकजनशिक्षकस्य महापुरुषस्य निवेदकस्य प्रभावादज्ञानकृतनिवेदितदेहानामपि चिन्ता न कार्येति मरकताभिधं तुरीयं रत्नम् आहुः ‘अज्ञानात्’ इति।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम्।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना॥४॥

अज्ञानस्य व्युच्चरणोत्तरक्षण एव सम्बन्धात् प्रथममुपादानम्। तच्चावरकत्वात् सङ्कर्षणनिचोलनिभम्, यतः ज्ञानात् प्रकाशकत्वेन भास्वरप्रायात् स्वच्छाद्धेतुभूतात् कृतं देहादीनां परमात्मने समर्पणम्, श्रीकृष्णाधीनकरणं प्राणानामविकृतमव्ययत्वाद्देद्यम्। अतस्तस्मै हितः प्रत्ययः सातिश्च वेद्यः। बुधे अज्ञानाद् ज्ञानाद्वार्पितं स गृह्णाति, बुधत्वेन वैषम्याभावात्। तदीयत्वेन रत्नमपि तादृशम्। प्रियते अनेनेत्यहन्ताममतात्मको विविधदुःखदो मनोदेहेन्द्रियविकृतिजनकः संसारो मरः, तस्य कतो नैर्मल्यजनकः। यतः कं निरतिशयानन्दः, तं तायति तनोति वा उप्रत्ययान्तः। मनोदेहेन्द्रियादीन् स्वभावतो मलिनान्

कतकापरपर्यायनिर्मलीकृतघनरसं शोधयति, तथेदमपि। अतः प्रमाणरूपरामेण तादृग्वर्णवसनं धृतम्। अज्ञं सुज्ञं वा पण्डितत्वादनुगृह्णाति।

सरस्वतीरूपनिचोलरामस्याङ्गे य आनन्दमये रसायाम्।

श्रीबालकृष्णो रमते यथेच्छं तं पूर्णकामं प्रणमामि देवम्॥१॥

बुधो विद्यारूपः प्रकटपरमानन्दजनको

निचोलं यन्नीलं सकलरसशृङ्गारविभवम्।

धृतं येन स्वच्छं मरकतमणिप्रख्यमतुलं

स मे चित्ते भूयादखिलतिमिराज्ञानदलनः॥२॥

निकुञ्जे यल्लीनं सरसरमणीनां हृदि तटे

प्रसिद्धं वृन्दाया विपिनभुवनेत्र प्रतिदिनम्।

प्रमेयं विख्यातं दशरसरसालङ्कृतवपुः

महातेजःपुञ्जं मनसि मम भूयाद्वसुमितम्॥३॥

मरकतमिह रत्नं यद्बुधस्योक्तमेत-

त्प्रभवतु मम चित्ते शोधनाय प्रकामम्।

गुरुचरणसमर्प्या स्याद्यथा पुण्यकर्त्री

सकलदुरितहर्त्री सर्वकामप्रदात्री॥४॥

इति बुधस्य मरकताख्यं चतुर्थं रत्नम्॥४॥

स्वतन्त्रः कर्ता सकलरसमयः श्रीनिकेतनः पूर्णपुरुषोत्तमो अर्पितमङ्गीकृतवान् न वेति संशयमुद्दिदधीर्षवो मुकुन्दमुखारविन्दतेजोनिधिरूपाः श्रीवाक्पतय आचार्याः सर्वथा प्रपन्नान् सेवकान् वाचस्पतेः सकलगुणनिधानं पुष्परागाख्यं पञ्चमं रत्नम् आहुः “तथा निवेदने चिन्ते”ति।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे।

विनियोगेऽपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः॥५॥

पुष्यन्ति अनायासेन भक्तानां शुभमनोरथा येन स पुष्यः पुरुषोत्तमः, तत्र रागो येन, समर्पणमात्रात् इति अङ्गीकृतिः, तस्मिन्ननुरागादेव सर्वथा भवति इति अन्वर्थं रत्नम्। अयं भावः। “पुष्यसिद्ध्यौ नक्षत्र” इति व्युत्पादनात् युध्यन्ति, पुष्टानि भवन्ति भक्तमनसेप्सितानि येन स पुष्यः। स च तेजोमयनक्षत्रात्मा न क्षीयते, न क्षरति, रश्मिभिर्व्याप्नोतीत्यक्षररूपः सदानन्दः पूर्णः श्रीपुरुषोत्तमः, तस्मिन् रागो येन तादृशः। भगवदङ्गीकृतेरिदं लक्षणं यत्तत्र परा भक्तिः प्रादुर्भवति। अत एव पूर्णः सदा ब्रह्माद्याश्रयणीयतया सहितत्वात् पुरुषेषूत्तमश्चेति नोपेक्षते अङ्गीकृतवस्तुमात्रम्, अर्पितस्य सच्छब्दार्थरूपत्वेन तस्य श्रीसूर्यनामनामित्वेन तदीयत्वात्। एवं ब्रह्मानन्दादुद्धरणं पदार्थमात्रस्य वेद्यम्। भजनानन्दे योजनं तु पुरणात् पुरुषधर्मः।

पूरणात् पुरुषतामनवद्यामुत्तमां समधिगम्य रमेशः।

सोयमत्र नहि मुञ्चति भक्तान् क्रीडति प्रतिदिनं हृदयेषु॥१॥

पुष्यति प्रतिदिनं हृदये वै येन राग इह भक्तजनानाम्।

तद्गुरो रसमयं पररत्नं पुष्पराग इति मे मनसि स्यात्॥२॥

स्वस्य स्वीयजनस्य वा परवशत्वादन्ययोगो भवेत्

दैवादत्र सदा तदा निजजनैश्चिन्ता न कार्या यतः।

सामर्थ्यं पुरुषोत्तमस्य सततं श्रीभर्तुरव्याहतम्

जानीयात् इति पुष्परागरचना मे मानसे भासताम्॥३॥

इति पुष्परागाख्यं पञ्चमं गुरुदेवस्य रत्नम्॥५॥

अहं ममेत्यसद्ग्राहेण लोचति यस्मिन् इति लोकः, पुनः पुनरावर्तनदः प्रवाहमार्गः। अत्र लोचनं नामाहन्ताममतयोरेव विशेषज्ञानम्। तत्र व्यवहारे क्रियमाणे सेवकस्य स्मयनाशनाय फलं न भवति, किन्तु लोके व्यवहारेण फलाभावात् खेदे सति हरिः करिष्यति, तदेव भविष्यति इति निश्चये जाते भगवान् पुष्टिमार्गे एव तिष्ठति इति अनायासेन सकलमनोरथाः सेत्स्यन्ति इति तटस्थतया सेवकैः स्थेयम् इति उपदिशन्ति, मर्यादामार्गेऽपि स्मयनाशनायोपदिशन्ति “लोके स्वास्थ्यम्” इत्यादिना।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः॥६॥

भक्तानां स्मयनाशनेन सकलं दुःखं हरति इति हरिर्यतो अयं तृतीयमार्गस्थः। मर्यादामार्गे देशादीनां कृष्णाश्रयोक्तरीत्या साम्प्रतमसाधकत्वात्, तत्र प्रत्युत प्रत्यूहमेव करोति परीक्षायै, स्वतन्त्रेच्छत्वाच्च, पुष्टिमार्गस्थितत्वेन सुखमेवान्ततः प्रयच्छति इति पुरुषार्थद्वयं सम्पद्यते। अन्यथा विततानेकविध्युक्तसाधने क्लेशोऽपि फलाभावे सुतरां क्लेशः। तस्मात् स्वयं कविनाम्ना रसाधायकरीत्या अलौकिकं न केनाप्ययनोद्यं फलं प्रयच्छति इति भावः। अत एव कवेर्वज्ररत्नेन ब्रजति पर्वततुल्यं किल्बिषं गच्छत्यन्वर्थेन सर्वं सेत्स्यति इति साक्षितया सेवकैस्तत्कृतिं पश्यद्भिरेव स्थेयम्।

वाणिज्यादौ च वेदे विविधविधिकृतो विघ्नमेवेति वेद्यं

यस्मात्तस्मात् फलं वै न भवति नितरां कर्तुरस्य कृपायाः (?)।

अन्तर्भूयोभिमानो न भवति सुतरां मानसं वज्रतुल्यं

नीरीभूतं यथा स्यात् फलमपि भवति श्रीशनिष्ठं यतस्तत्॥१॥

पर्वतसदृशं किल्बिषमिह जातं भक्तवर्गस्य।

व्रजति त्वरितं वज्रादित्यन्वर्थं कवे रत्नम्॥२॥

साक्षीवत्कृतिमादराद्भगवतो यूयं सदा पश्यते-

त्येवं सिध्यति सर्वमीप्सिततमं कार्यं फलं कर्तृतः।

पुष्टिं श्रीपुरुषोत्तमादुपदिशन्त्यद्वा तदास्यात्मका

आचार्याइह वैष्णवान् स्वकुलतोप्यन्याननन्याश्रितान्॥३॥

मर्यादात्यजनं विरुद्धमिह यत्तत्त्वं परं ये विदुः

पुष्टेः किन्तु दरिंभरित्वमिति तत् स्वीकृत्य पुष्टिं गताः।

दुष्टास्ते दयया सदा विरहिता वेदाक्षरान् वाचय-

त्यद्वाज्ञान्गुरुमीश्वरं ह्युपदिशन्तीशस्य चाज्ञाद्रुहः॥४॥

इति कवेः शुकस्य रत्नं षष्ठम्॥६॥

कविज्योतीरूपो देवः सुरासुरभावज्ञ आसुरभावं निन्दयन् दैवभावं स्तुवन् स्वरत्नेन।
एवं च प्रह्लादादिष्वासुरत्वेऽपि तद्धर्माभावादनुग्रहः, अन्येषु निग्रहोऽपि सूचितो अनेनेति।
दैवेः किं कृत्वा स्थेयम् इत्यादिसन्देहान् सारिरत्नेन निवर्तयन्ति 'सेवाकृति' रित्यादिना।

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया।

अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्॥७॥

गृणाति परमात्मनस्तत्त्वम् इति गुरुः "गुरुं न मर्त्यं मन्येते"ति वाक्यात्
तदुपदिष्टमार्गेण रसमयी सेवा विधेया। ततः कदाचिद्भगवदनुग्रहवशात् सेवकस्य
विशेषेच्छायां भावरूपा भगवदिच्छा विशेषाकृतिरूपेण तत्तमनसः प्राकट्यमाप्नोति,
साद्वा भगवदिच्छेत्यनुमित्या मन्तव्या सेवकैः। एवं हि गुर्वाज्ञाबाधनमबाधनं वा
हरीच्छया भवति इति भावः। इन्द्रनीलरत्नं त्वतिमन्थरगतेः सर्ववर्णैरनपनोद्यवर्णैः
तमसाप्यनुपनोद्यं च सर्ववर्णत्वात्। इन्द्रः परमात्मा परमैश्वर्यवान् सकलरसायां
जीवनरसवर्षणशीलः, अत एवाद्युदात्तस्तद्वदतिनिबिडश्यामसुन्दरमूर्तिः, तस्येदम्। अनेन
श्यामसुन्दरसेवायां मनःप्रभृतीनां वृत्तयो अव्यावृत्ततया मन्थरगतयो
रसमयस्थिरविद्युल्लतारूपा भवन्त्यत उक्तं "सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां
सुखम्" इति। निबिडरसकुञ्जसेवाया मन्थरा गतिर्भवति सत्रत सेवासक्त्या सकलं
सिध्यति इति व्यञ्जितम्।

गुरुणा परमेश्वरेण या कथिता सर्वरसप्रदायिनी।

परमा तनुसेवना तथा वसुना स्वस्य च सा परा मता॥१॥

यदि सा त्वधिका ततो भवेन्मनसस्तस्य परात्मनः प्रभोः।

परमेष्टतयावगम्यतां निजभक्तैरवरुध्य चेन्द्रियम्॥२॥

स्थिरतामुपगम्य सेवयावसरेऽन्यत्र कथारसैस्तथा।

रविनन्दनरत्ननीलतां रमणीयां हृदये विचिन्तयेत्॥३॥

इन्द्रनीलमणिवद्विराजिता सर्ववर्णसमवायदेवता।

मन्दमन्दगतिमद्रसान्विता मे मनस्यविरतं विराजताम्॥४॥

यद्यप्यनेन भगवत्सेवायां देहेन्द्रियाणां स्थिरतोपदिष्टा, तथापि “यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः। इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः। इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसी”त्यादिवाक्यैर्वायोरिव मनसो दुर्ग्रहत्वेनानेकदुःखोत्पत्त्या चित्तोद्विग्नतायां सेवाया असम्भवात् तन्निवृत्त्यर्थं गोमेदाख्यं विधुन्तुदस्याष्टमं रत्नम् आहुः ‘चित्तोद्वेगम्’ इत्यादिना।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति।

तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत्॥८॥

सांसारिकानन्तदुःखजन्योद्वेगस्य चित्तधर्मतया अवश्यं प्रथमं भवनम् इति कृतोपि स कृतो भवति इति कत्वोक्तिः। तदुत्तरं सेवकस्य यत्कर्तव्यं तत् आहुः ‘हरिर्यद्यत्करिष्यति’ इत्यादिना। सेवकानां सकलदुःखहर्ता हरिर्यद्यदनेकविधं दशललितलकारप्रकृतिबोधितफलाश्रयं करिष्यति, तथैव तस्य हरेर्लीलेति मनसि ज्ञात्वा चिन्तां शीघ्रं विसृजेत्। विधौ लिङ्। विधिः कर्तव्यार्थोपदेशः। करिष्यति इति वर्तमानसामीप्ये लृट्। अनेन वर्तमानकार्यं भविष्यत्कार्यं सकलं भगवल्लीलेति सेवकैर्मन्तव्यम् इति भावः। अतीतसमये स्मृतिमात्र आनन्द उपलक्षणत्वेन वेद्यः। वर्तमानस्यानुभूयमानागणितानन्दत्वे रसाधायकत्वम्। भविष्यति तु भाविनि कार्ये अत्युत्कण्ठितं मन इति रसाधायकत्वम् इति त्रिष्वपि समयेषु यद्यत्कार्यम्, सा लीला। एवं च सदा चिन्तात्यागे गवामिन्द्रियाणां तेषामाधारतारूपमङ्गलदेहस्य बोधकवाणीनां च स्नेहात्मकभेदो वृद्ध्या गोमेदो विधुन्तुदरत्नप्रकाशकस्यास्य भवति। किञ्च, भगवत्सेवकमानसचन्द्रस्य भगवद्वियोगजरसं रूपस्फूर्त्या तत्तल्लीलायाः स्मरणात् तन्मयत्वेन ब्रह्मभूयं लब्ध्वा परब्रह्मभगवत्प्राप्तिरविलम्बेन भवति इति श्रुतिरहस्यार्थो अनेन व्यञ्जितः।

चिन्तात्याजनतस्त्वेनेन विदुषां वाणीहृषीकादिकाः

पुष्टिं यान्ति निरन्तरं विधुमनःखेदं विधायाद्भुतम्।

शीघ्रं प्राप्तिरतो यतो भगवतो लक्ष्मीपतेरञ्जसा

गोमेदाभिधरत्नरूपत इदं मे मानसे भासताम्॥१॥

गोपालगोरक्षणधर्महेतोर्वैश्यत्वमङ्गीकृतमत्र विद्वन्।

वसुन्धरां गां परिपालनाय कृतावतारत्वमुपेक्षसे कथम्॥२॥

ब्रह्मण्यदेवासु निजेषु कश्चिन्नियोजनीयः सुरतावनाय।

नोचेत्कथंतेबिरुदंस्थिरंस्यात्कृपानिधेऽनन्तशरण्य विद्वन्॥३॥

इति मुरलीधरवाण्या देहहृषीकाणि पुष्टिमुपयान्तु।

मुरलीधरस्य सततं श्रीगोपालप्रसादेन॥४॥

इत्यष्टमं गोमेदाख्यं रत्नम्॥८॥

नन्विदानीन्तनानां सेवकानां श्वः श्वः पापिष्ठदिवसत्वेन देशादीनां साधकत्वाभावात् श्रवणादीनां सम्यक्तया असम्भवात् पूर्वोक्तप्रकाराणां सुतरामसम्भवाच्च कथं फलप्राप्तिरिति आशङ्क्य सा भवत्यनायासेनेति तत्प्रकारः त्रिसूत्रापरपर्यायेण नवमेन वैदूर्यरत्नेनाहुः 'तस्मात्' इति।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।

वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः॥९॥

यस्मात् पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यम्, तस्माद्धेतोः सर्वात्मना वाचा व्यक्ततया मनसान्तरव्यक्ततया तदर्थानुसन्धानपूर्वकं सदा आसुरावेशाभावायाष्टाक्षर मुच्चारयद्भिरेव सेवकैः स्थेयम्। यथा मनसो अन्यत्र वृत्तिर्न भवति, तथा विधेयम् इति मे मनीषा अस्ति इति उपदेशः। अयं भावः। श्रीकृष्ण इति विशेषणम्, शरणम् इति विशेष्यम्, त्यक्षरं सूत्रद्वयम्। ततः समसम्बन्धबोधकं द्वयक्षरमपि परोक्षास्तिनात्यक्षरीति नव। किञ्च। जितात्मनः सम्बन्धबोधकं द्विधा, अव्ययमनव्ययं च। अव्ययात् विकाररहितात् पुष्टिमार्गीयसिद्धा पुष्टिमार्गीयाणाम्, साध्येतरेषाम् इति भावः। भक्तबोधकादनव्ययाच्च प्रवाहमार्गीयभक्तबोधकादस्ति इति लीलाबोधकं पदमस्तु इति वा शेषत्वेन विज्ञैर्विज्ञेयम्। एवं च सल्लीलाप्रकाशकत्वेन सह त्यक्षरी तृतीयेति नवाक्षरी परमावधिसङ्ख्या वेद्या। एता ब्रह्मसूत्राक्षररूपाः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धैर्धृताः, सदैव शिखायज्ञोपवीतधारणं ब्रह्मवैवर्ते व्यक्तम्। ब्रह्मादिभिश्च सह जातत्वेन तद्भारमन्त्र उक्तत्वादतः सदा धारणम्। "सदा बद्धशिखेन चे"ति कारिकावन्मालापि सदा धार्या। मलधातोर्धारणार्थकत्वात्। मल्यते सदा ध्रियते सा माला।

अनुपमसुवर्णरत्नैरद्भुतमाला वसुमितैर्विहिता।

मध्यश्रीमाणिक्या विराजतां मामके मनसि॥१॥

इत्थं नवाक्षरीयं परोक्षनित्यास्तिना चोक्ता।

प्रत्येकं व्यक्तीनां स्वरूपमस्या विराजतां हृदये॥२॥॥९॥

तत्र प्रथमं जगन्मङ्गलमङ्गलमूर्तिर्भगवदुरसि स्थितेन श्रीवर्णेन सकलरत्नसुवर्णरससम्भृता नित्यानन्ता द्वितीया प्रकृतिः संसिद्ध्यर्थिका विराजेते। द्विसुवर्णाकृतिवर्णो यत्र। अत एवादिर्विस्तरेण विस्ताराय श्रेष्ठभानुकीर्तिवेद्यपरम्परया प्रकाशको यत्र। द्वौ सदा^{१०} विराजमानौ सिद्धसाध्यौ यथा रामित्युक्तं श्रुत्यानुनासिकौ तौ तु व्यवहार्याव्यवहार्यौ। तत्र पूर्वो गत्यर्थप्रकृतिश्चतुर्थः॥

इति श्रीमुरलीधरभट्टविरचिता नवरत्नटीका सम्पूर्णा॥

१. स्वयमिति पाठः।

परिशिष्टम्। श्रीलालूभट्टस्य।

अथ नवरत्नग्रन्थविषये किञ्चिल्लिख्यते। “प्रीयते अमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्” “भक्त्याहमेकया ग्राह्यः” “वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या” “भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति” इत्यादि वचोभिः प्रेमलक्षणाया भक्त्या भगवान् लभ्यः। “दारान् सुतान् गृहान् प्राणान्” इति आरभ्य “उद्धवात्मनिवेदिनां मयि सञ्जायते भक्ति” रित्यन्तेन वाक्येन प्रेमलक्षणाया निवेदनलभ्यत्वम्। निवेदनं च देहादिषु स्वकीयत्वाध्यासनिवृत्तिपूर्वकभगवदीयत्वबुद्धिसम्पादने भवति। “क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्यु” रित्यादिवचनैर्निखिलवस्तूनां भगवदीयत्वात्तदीयत्वबुद्धिसम्पादनेन देहादीनां भगवत्सेवोपयोगिकरणस्य निवेदनपदार्थत्वात्। जाते च निवेदने पुनरिष्टानिष्टप्राप्तिनिवृत्युपायविमर्शनादिरूपचिन्ताकृतौ स्वकीयत्वाभिमानेन बाहिर्मुख्यसम्भवान्निवेदनवैयर्थ्यं स्यात्। तथा सति न निस्तार इति परमकृपालुभिराचार्यचरणैश्चिन्तारूपप्रतिबन्धनिवृत्यर्थं “चिन्ता कापि न कार्येत्याद्युपदिदिशे। तथापि निवेदनस्य श्रवणाद्यष्टकान्तरभावित्वात् श्रवणादीनां च प्रत्येकं दुरापतया निवेदनस्य सुतरां तथात्वेन प्रेमलक्षणाया अनुत्पत्त्या कथं भगवदाप्तिरिति आशङ्क्य “श्रीकृष्णः शरणं ममे” त्यष्टाक्षरमन्त्रो निरन्तरमावर्तनीयः, तेन च सर्वानुपपत्तिपरिहारः सकलसिद्धिश्चेत्युपदिष्टम्। तत्र कथमनुपपत्तिपरिहारपूर्वकार्यसिद्धिरिति आकाङ्क्षायां तदाशयं विवृण्वन्ति प्रभुचरणाः “साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानम् आहु” रित्याभासग्रन्थेन। “श्रीकृष्णः शरणं ममेति” अष्टाक्षरमन्त्रे साधनफलयोरेकीकरणात्सर्वसमाधानम् इति भावः। तथाहि। श्रीकृष्णः फलरूपः निःसाधनजनोद्धृतिकृताभिव्यक्तिः सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा मम निःसाधनस्य शरणं आश्रयः शक्याशक्यसम्पादक इति मन्त्रार्थः। यद्यपि स्वायोग्यताविचारे श्रवणादिसाधनदौर्लभ्येन भगवत्प्राप्तिनैश्चिन्त्याभावः तथापि प्रभोः पुष्टिस्वरूपविचारे शरणागतौ सर्वं सुलभम्। “तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्” इत्यादिवाक्यात्। तत्र साधनक्रमेण चेदुद्दिधीर्षुः, तदा जीवाशक्यानपि श्रवणादीन् सम्पाद्योद्धरति। अन्यथा विनापि साधनं कृतार्थयति। अतः शरणगमनं पुमर्थसाधनम्। अत एव “शरणं भावयेद्धरिम्” इति श्रीमदाचार्यैरुक्तम्, “भक्तद्रोहे भक्त्यभाव” इति च। इह भक्त्यभावे भक्तिसिद्ध्यर्थं हरिं शरणं भावयेत् इति अर्थः। प्रकृतेपि श्रवणादिनवविधभक्तीनां दौर्लभ्यं ज्ञात्वा नवविधभक्तिसिद्ध्यर्थमेतन्मन्त्रावृत्तिरुपदिष्टा। अतः प्रमाणबलविचारेण पूर्वपक्षः, प्रमेयबलविचारेण समाहितिरिति ज्ञेयम्। तथा च फलमेव साधनीकृत्येति फक्किकार्थः। अनेन “श्रीकृष्णः शरणं ममे”ति मन्त्रार्थो व्याख्यतो ज्ञेयः।

किञ्च। अयं मन्त्रो नेतरसाधारणः, किन्तु पुष्टिमार्गीयः, समर्पणगद्यवत्। अत एव प्रभुचरणैरभिहितं “यदुक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम। तत एवास्ति नैश्चिन्त्यमैहिके पारलौकिक” इति। पुष्टिमार्गीयत्वं च

भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलाभाववत्वम्। तथा च पुष्टिस्थैरयं मन्त्रोनवरतमावर्तनीयः। मनसा पूर्वोक्ततदर्थानुसन्धानेन शरणभावनं च कार्यम्। अत एवोक्तम् “एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तयेत्” इति। एवं प्रपत्तौ भगवानशक्यमपि साधयिष्यति इति निष्कर्षः। अत एव तद्विवृत्तौ प्रभुचरणैरूचे “सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यति इति हृदयम्” इति।। तथा सति चिन्तालेशोपि नास्ति इति प्रतिबन्धाभावे सिद्धे निवेदनसिद्धौ मुख्यभक्तिलाभः, तेन च भगवत्प्राप्तिरिति चिन्ताकरणनिराकरणनिरूपणस्य सार्थक्यम् इति कोविदा एव विदाङ्कुर्वन्तु।

नवरत्नप्रकाशे “अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृते अग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः” इयं फक्किका पूर्वफक्किकया न सङ्गच्छत इति बहूनामार्याणां महानेवोद्यमो अस्मिन्ग्रन्थे नानाविधो अस्ति। परन्तूद्यमशतेनापि न लगतीयं फक्किका। तत्रायं निष्कर्षो बोध्यः। इह लेखकादिदोषवशात्फक्किकानां वैपरीत्यं जातं लेखने। अतः फक्किकानामर्थस्वारस्यं विचार्य पूर्वापरभावं निर्धार्य फक्किका लिख्यन्ते। तथाहि। इह पूर्वं “निवेदने भजनाधिकारस्तस्मिन् सति तदनिर्वाह इति उभयतः पाशारज्जुरिति चेत्” इति फक्किकास्ति। तत्रोत्तरमुक्तम्, “अत्र वदाम” इत्यादिना। तत्र “गायत्युपदेशजसंस्कारवत्” इत्यन्ते निवेदनस्यावश्यकतोक्ता। एवं निवेदनस्यावश्यकत्वम् उक्त्वा निर्वाहः केन कार्य इति आकाङ्क्षायां निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा” इति फक्किकास्ति पठिता। तथा च देहादिनिर्वाहः केन कार्य इति आकाङ्क्षायां निवेदितेन निर्वाहः कार्य इति उत्तरं सिध्यति। तत्र किं प्रमाणम् इति आकाङ्क्षायां ‘दासधर्मत्वात्’ इति उक्तम्। तदग्रे भगवद्वाक्यं प्रमाणत्वेनोपन्यस्य निवेदितेन निर्वाहः कार्य इति ज्ञापनार्थं “मुच्छिष्टभोजिनो दासा” इत्यादिवाक्यै ‘रात्मशोधकत्वाच्चेति’ पठितम्। तदग्रे “अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः” इति फक्किकया अन्यथानुपपत्तिः प्रदर्शिता। तदग्रे ‘अपरञ्चे’त्यारभ्य “अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्” इति अन्तेन निवेदनदानयोः पुनः स्वविनियोगतदभावाभ्यां वैलक्षण्यं प्रदर्श्य भगवदनिवेदितेन निर्वाहं निषिध्य भगवन्निवेदितपदार्थेन भगवदुपभुक्तशिष्टेन प्रसादतया प्राप्तेन निर्वाहः कार्य इति सिद्धान्तितम्। एवं फक्किकाक्रमे सर्वोऽपि ग्रन्थः सङ्गतो भवति। तथा च सिद्धमेतत्। “द्विजस्य वैदिके कर्मणि गायत्युपदेशजसंस्कारवत्” इति फक्किकाया अग्रे “निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्दत्तप्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा, दासधर्मत्वात्। ‘उच्छिष्टभोजिनोदासा’” इत्यादिवाक्यैरात्मशोधकत्वाच्चेत्यन्तो ग्रन्थो ज्ञेयः। एतदग्रे “अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदने कृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः। अपरञ्च। दाने हि न स्वविनियोगः, न तु निवेदने। अन्यथा निवेदितान्नादेर्भोजनं न स्यात्। अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्” इत्यन्तो ग्रन्थो अस्ति। तदग्रे “किन्तु प्रभौ निवेदितार्थविनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो न वेति भवति चिन्ते”त्यादिरूपो ग्रन्थो अस्ति इति सर्वमनवद्यम्।।